अध्याय – 6

जीवाश्म विज्ञान
(Palaeontology)

जीवाश्म की परिभाषा (Definition of Fossil)

ऐसे प्राणियों और वनस्पतियों के अवशेषों को जो पुरातनकाल में कभी इस पृथ्वी पर पाये जाते थे, जीवाश्म कहते हैं। हमें यह ध्यान रखना चाहिए कि जीवाश्म में विलुप्त प्राणियों के अवशेष का अर्थ निहित नहीं है। ऐसी जातियाँ जो पुरातन काल से लेकर वर्तमान काल तक पायी जाती हैं, उनके अवशेषों को भी जीवाश्म कहते हैं। उदाहरणस्वरूप नाटिलस आधुनिक काल में जीवित है और इसके जीवाश्म भी प्राप्य हैं। आदर्श जीवाश्म के लिये पृथ्वी पर प्राणियों और वनस्पतियों की उपस्थिति का सूचक होना ही पर्याप्त नहीं है। उन अवशेषों को ऐसा होना चाहिए जिससे प्राणियों और वनस्पतियों के साइज, आकार, संरचना और अलंकरण आदि के विषय में भी ज्ञान हो सके। उत्तम और आदर्श जीवाश्म के लिए आयु तीसरा प्रतिबन्ध है। जीवाश्म की भू–वैज्ञानिक आयु अत्यन्त आवश्यक है। जब जीवाश्म की आयु बतलायी जाती है तब उसका अर्थ दो–चार या केवल सौ वर्षों से नहीं होता। भू–वैज्ञानिक आयु लाखों वर्षों में आंकी जाती है। कुछ वर्ष मृत मनुष्य के गाड़े हुए अस्थि–पंजर को जीवाश्म नहीं कहा जा सकता, परन्तु यूरोप की गुफाओं में पाये गये क्रो–मैगनॉन (Cromagnon) मनुष्यों के अवशेषों को जीवाश्म कहा जा सकता है, क्योंकि भू–वैज्ञानिक दृष्टि से उन अवशेषों की कुछ आयु है।

कुछ जीवाश्म–वैज्ञानिकों के अनुसार केवल उन्हीं अवशेषों को जीवाश्म कहना चाहिए जिनका परिरक्षण केवल प्राकृतिक कारकों और प्रक्रियाओं द्वारा हुआ हो, परन्तु यह तर्क महत्वपूर्ण नहीं है। किसी अवशेष के परिरक्षण में केवल प्रकृति का हाथ है अथवा मनुष्य या अन्य किसी जीव का, यदि यह जीवाश्म सम्बन्धी अन्य सभी आवश्यकताओं की पूर्ति करता है तो उसे जीवाश्म की परिभाषा के अन्तर्गत माना जा सकता है।

सबसे प्राचीन जीवाश्म (The Oldest Fossils)

केम्ब्रियन कल्प से पूर्व की शैलों के अध्ययन से पृथ्वी पर जीवन के प्रमाण सम्बन्धी जानकारी मिलती है, जबकि जीवन की उत्पत्ति अभी भी रहस्यमय बनी हुई है। अधिकांश वैज्ञानिक विचारधाराओं के अनुसार जीवन की शुरूआत कार्बनिक पदार्थों (Organic Compounds) के वायुमण्डल (Atmosphere) एवं धरातल (Earth Surface) पर संश्लेषण (Synthesis) से हुई है।

जीवन के प्रमाण पृथ्वी पर रासायनिक अवशेष के रूप में जैव पदार्थों (Organic Compounds) के रूप में जबकि जैव अवसादी (Organo Sedimentary) प्रमाण स्ट्रोमेटोलाइट के रूप में मिलते हैं।

आर्कियन समय के अवसादों से 3.76 Ga पूर्व के जीवन सम्बन्धी प्रमाण मिले हैं, जिनके जैव होने सम्बन्धी विवाद हैं, जबकि अविवादास्पद सूक्ष्मदर्शी साइनोफीसियन (Cyanophycean) अवशेष जो कि पश्चिमी आस्ट्रेलिया के नार्थपोल डोम क्षेत्र से मिले हैं तथा 3556 Ma आयु के हैं, दूसरी ओर भारत में 3000 Ma पूर्व के प्रमाण उड़ीसा के भद्रशाही क्षेत्र से (Iron ore Supergroup) मिले हैं।

सूचक–जीवाश्म (Index-fossil or Guide-fossil)

स्तरित शैल–समूहों की कुछ इकाइयों में कभी–कभी जीवाश्मों की कुछ विशिष्ट जातियाँ, वंश या समूह पाये जाते हैं। ये जीवाश्म शैलों के सह–सम्बन्ध स्थापित करने में अत्यधिक महत्व के होते हैं। जीवाश्मों की इन तीन जातियों, वंशों या समूहों को सूचक जीवाश्म या निर्देशक जीवाश्म (guide-fossil) कहते हैं।

सूचक–जीवाश्मों में निम्नलिखित लक्षण पाये जाते हैं–

1. सूचक जीवाश्मों का भू–वैज्ञानिक वितरण सीमित होता है, अर्थात् उनका अस्तित्व अधिक काल तक नहीं रहता।

2. उनका भौगोलिक वितरण विस्तृत होता है, अर्थात् उस न्यून काल में ही वे पृथ्वी के दूर–दूर के क्षेत्रों में वितरित हो जाते हैं।

3. उनमें विभिन्न वातावरण के अनुसार स्वयं को अनुकूलित करने की क्षमता होती है। चूंकि पृथ्वी के विभिन्न क्षेत्रों में भिन्न–भिन्न वातावरण पाये जाते हैं, अतएव वे ही प्राणी एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र में अभिगमन करते हैं जिनमें स्वयं को वातावरण के अनुसार ढालने की क्षमता होती है।

4. सूचक–जीवाश्म के अन्य लक्षणों में, उनका सरलता से पहचानने योग्य होना तथा पर्याप्त संख्या में नमूने प्राप्य होना मुख्य हैं। दूसरे शब्दों में उनका परिरक्षण उत्तम होना चाहिए।

उपर्युक्त तथ्यों के आधार पर सूचक–जीवाश्म को निम्नलिखित शब्दों में परिभाषित किया जा सकता है :– सरलता से प्राप्य एवं सरलता से पहचानने योग्य, सीमित भू–वैज्ञानिक वितरण तथा विस्तृत भौगोलिक वितरण वाले ऐसे जीवाश्मों को सूचक–जीवाश्म कहते हैं। इसमें विभिन्न वातावरण के अनुसार अनुकूलन की क्षमता होती है।

ऐसे जीवाश्मों की संख्या बहुत ही कम है जो उपर्युक्त शर्तों को पूरा करते हैं। सूचक या अन्य किसी भी जीवाश्म का भौगोलिक या भू–वैज्ञानिक वितरण (1) उनके अस्तित्व–काल (जो विकासीय परिवर्तन अथवा उनके विलोप द्वारा नियन्त्रित होता है), (2) वातावरण, (3) अभिगमन मार्ग एवं (4) ऐसे अवरोधों, जिन्हें पार न किया जा सके, पर निर्भर करता है।

ट्राइलोबाइट, ग्रेप्टोलाइट, अमोनाइट एवं कोरल की कुछ जातियाँ महत्वपूर्ण सूचक–जीवाश्म की उदाहरण हैं।

जीवाश्म बनने के कारक (Factors for fossilization)

इसके पूर्व कि हम जीवाश्म की विभिन्न विधियों के विषय में पढ़ें, जीवाश्म की विविध आवश्यकताओं (Essentials of fossilisation) के विषय में जान लेना आवश्यक है। किसी प्राणी के जीवाश्म बनने के लिए उसका परिरक्षण होना आवश्यक है। परिरक्षण कुछ विशेष परिस्थितियों पर निर्भर करता है, उनमें से निम्नलिखित मुख्य हैं–

1. अस्थिपंजर या कवच (Skeleton or shell) – प्राणियों की देह बहुधा मांसल अथवा कोमल और कठोर भागों की बनी होती है। कठोर भाग को अस्थिपंजर या कवच कहते हैं। मृत्यु के उपरान्त मांसल भाग शीघ्र ही क्षय होकर नष्ट हो जाता है। यदि प्राणी की देह केवल मांसल भाग की ही बनी हो, जैसे जैलीफिश (Jellyfish) तो स्वाभाविक है कि कुछ समयोपरान्त उसका कोई अवशेष नहीं बचेगा। अतः जीवाश्मन के लिए अत्यन्त आवश्यक है कि देह में कोई ऐसा कठोर भाग हो, जैसे अस्थियाँ, जो मरणोपरान्त सरलता से नष्ट न हों।

2. दबना (Burial) – जीवाश्म के लिए केवल कठोर भाग का होना ही पर्याप्त नहीं है, वरन् उसका पृथ्वी के अन्दर किसी प्रकार दबना (Burial) भी आवश्यक है, अन्यथा वह इधर–उधर शीघ्र ही बिखरकर नष्ट हो जायेगा। थल–चर प्राणियों की अपेक्षा जलचर प्राणियों के जीवाश्मन की सम्भावना अधिक होती है क्योंकि समुद्र और झील आदि में मिट्टी और बालू का निक्षेपण अधिक होता है। यही कारण है कि जीवाश्म के रूप में थलचर की अपेक्षा जलचर प्राणियों की बहुतायत है।

3. अस्थिपंजर की भौतिक संरचना और रासायनिक संघटन – अस्थिपंजर की भौतिक संरचना और रासायनिक संघटन का भी जीवाश्मन की क्रिया में महत्वपूर्ण स्थान है। यदि कवच अत्यन्त पतला और कमजोर है, जैसे – आर्गोनाटा (Argonauta) का कवच तो वह सरलता से टूट–फूट जायेगा। इसी प्रकार स्पंज (Sponges) का अस्थिपंजर जालीदार होता है। जो अनेक छोटी–छोटी सिलिका की सुइयों जैसे भागों का बना होता है। ये सुइयाँ जीवित अवस्था में पेशियों की सहायता से एक दूसरे से जुड़ी रहती हैं, परन्तु मरणोपरान्त ये सुइयाँ बिखरकर नष्ट हो जाती हैं। दूसरी ओर जिन प्राणियों के कवच सुदृढ़ होते हैं, जैसे – प्रवाल और मोलस्का (Corals and Mollusca), वे जीवाश्म के रूप में बहुतायत से पाये जाते हैं।

अस्थिपंजर की भौतिक संरचना से भी अधिक महत्वपूर्ण उसका रासायनिक संघटन है। कुछ प्राणियों, जैसे – ट्राइलोबाइट्स (Trilobites) के बाह्य–कवच (Exoskeleton) एक प्रकार के कड़े पदार्थ, काइटिन (Chitin) के बने होते हैं, रेडियोलेरिया (Radiolaria) में सिलिका के तथा कशेरुकी प्राणियों के कवच बहुधा चूने के कार्बोनेट ($CaCO_3$) और फास्फेट्स के बने होते हैं। काइटिन सरलता से नहीं घुलता इसलिए इसके अस्थिपंजरों के जीवाश्म की सम्भावना अधिक होती है। क्रिस्टलित सिलिका (Crystillised Silica) सबसे अधिक प्रतिरोधी खनिजों में से एक है, परन्तु अस्थिपंजर में बहुधा यह अक्रिस्टलीय और काँचाभ (Glassy) होता है। जिन प्राणियों के अस्थिपंजर चूने के कार्बोनेट और फास्फेट के बने होते हैं वे इनके सरलता से घुलनशील होने के कारण अत्यन्त शीघ्र नष्ट हो जाते हैं।

जीवाश्मन की विधियाँ/जीवाश्म संरक्षण के प्रकार (Modes of Fossilisation)

जीवाश्म विषयक उपरोक्त तथ्य जान लेने के उपरान्त हम जीवाश्म की विभिन्न विधियों के विषय में पढ़ेंगे।

किसी भी प्राणी के जीवाश्म–अभिलेख के दो मुख्य प्रकार हो सकते हैं– स्वयं देह का परिरक्षित होना, अथवा उसकी देह के किसी भाग का परिरक्षित होना। नीचे वर्णित विधियों में दोनों प्रकार के अवशेषों का समावेश है, तथापि देह के किसी भाग का परिरक्षित होना सर्वाधिक सामान्य है।

1. अपरिवर्तित सम्पूर्ण अवशेष (Unaltered Remains or Fossil in toto) – कुछ विशेष परिस्थितियों में प्राणी के शरीर बिना किसी परिवर्तन के सम्पूर्ण रूप से परिरक्षित हो जाते हैं। ध्रुवीय प्रदेशों में हिम लाखों–करोड़ों वर्षों से जमा हुआ है। ये प्रदेश एक प्रकार के प्राकृतिक शीत संग्रहागार हैं। इन्हीं हिम प्रदेशों में अनेक ऐसे उदाहरण मिले हैं जहाँ प्राणी के अस्थिपंजर के साथ–साथ देह का सम्पूर्ण मांसल भाग भी अपनी मूल स्थिति में परिरक्षित पाया गया है। यह तभी सम्भव है जब प्राणी पूर्णरूपेण निरन्तर हिम के नीचे दबा रहे।

सम्पूर्ण जीवाश्म के सबसे उत्तम उदाहरण साइबेरिया के लोमश मैमथ (Woolly Mammoths) हैं जो हिमभूत टुन्ड्रा में परिरक्षित पाये गये हैं। इस सदी के प्रारम्भ के कुछ वर्षों में ये इतने अधिक संख्या में प्राप्त हुए कि रूस में एक हास्य प्रचलित हो गया था कि वैज्ञानिक सम्मेलनों के भोज में इन जीवाश्म मैमथ के मांस की बोटियाँ परोसी जाती हैं। ये जीवाश्म इस सीमा तक परिरक्षित थे कि इनके पेट के अधपची वनस्पति के अंश तक देखे गये।

2. अपरिवर्तित अस्थिपंजर (Unchanged Skeleton) – अपरिवर्तित सम्पूर्ण अवशेष की अपेक्षा ऐसे उदाहरण अधिक मिलते हैं जिनमें मांसल भाग तो नष्ट हो जाते हैं, परन्तु अस्थिपंजर प्रायः बिना किसी वास्तविक परिवर्तन के पाये जाते हैं। मृत्यु के उपरान्त, सिवाय जैव पदार्थ के नष्ट होने के, अस्थिपंजर में प्रायः कोई विशेष परिवर्तन नहीं होता। इंग्लैण्ड की प्लायोसीन शैलों (Pliocene rocks) में पाये जाने वाले कवच ऐसे जीवाश्मों के उत्तम उदाहरण हैं, परन्तु शत–प्रतिशत अपरिवर्तित अस्थिपंजर के उदाहरण उपेक्षाकृत कम ही पाये जाते हैं क्योंकि उनमें बहुधा किसी न किसी खनिज पदार्थ, जैसे चूने का कार्बोनेट का योग हो जाता है।

3. परमिनरलाइज्ड अस्थिपंजर (Permineralized Skeleton) – कई अस्थिपंजर और कवच छिद्रयुक्त (Porous) और भेद्य या पारगम्य (Permeable) होते हैं, जिनमें बहुधा अकार्बनिक पदार्थों का निक्षेपण हो जाता है। अकार्बनिक पदार्थ सामान्यतया चूने का कार्बोनेट और सिलिका होते हैं। अस्थिपंजर या कवचों के छिद्रों में इन पदार्थों के निक्षेपण से उनके मूल संगठन में तो कोई भी परिवर्तन नहीं होता परन्तु उनके भार तथा सूक्ष्म रूप से कभी–कभी साइज में वृद्धि हो जाती है। उपर्युक्त प्रकार के परिवर्तन को, जिसमें अवशेष चूने के कार्बोनेट या अन्य किसी खनिज के घोल में संसिक्त (Impregnate) हो जाता है, परमिनरलाइजेशन कहते हैं। सीनोजोइक शैलों (Cenozoic) में पायी जाने वाली जीवाश्म अस्थियाँ और मोलस्का के कवच परमिनरलाइजेशन के अच्छे उदाहरण हैं।

4. साँचा और ढालित (Moulds and casts) – कभी–कभी प्राणी के अस्थिपंजर का केवल साँचा या ढालित ही बचा रहता है। इन्हें भी जीवाश्म माना जाता है। कवच या अन्य ठोस अस्थिपंजर यदि किसी नर्म पदार्थ, जैसे – मृत्तिका आदि में दब जाये और मूल अवशेष किसी प्रकार घुलकर अपनयित हो जाये जो इस प्रकार मूल अवशेष के आकार की गुहिका शेष रहेगी। इस गुहिका की दीवार पर मूल अवशेष की बाह्य सतह की छाप आ जायेगी। गुहिका की इस छाप को सामान्यतया बाह्य साँचा (External mould) कहते हैं। बाद में अन्तःस्त्रावी जल (Percolating water) में घुले खनिज इस गुहिका में निक्षेपित हो जाते हैं। इस प्रकार जो साँचा निर्मित होगा उसे प्राकृतिक–प्रतिकृति (Natural replica) कहते हैं। मोम या गटापार्चा जैसे किसी पदार्थ से इस गुहिकर को भरने से जो साँचा बनेगा उसे कृत्रिम प्रतिकृति कहते हैं। यह याद रखना चाहिए कि इन प्रतिकृतियों की बाह्य सतह पर मूल अवशेष की बाह्य सतह पर छाप होगी। दूसरी संभावना के अनुसार यदि मोलस्का जैसे प्राणियों के कवच किसी महीन अवसादी शैल में सन्निहित हो जाये तो मांसल भाग के क्षय होने के फलस्वरूप खाली हुआ स्थान भी उन्हीं अवसादों से भर जायेगा। तदुपरान्त यदि कवच अन्तःस्त्रावी जल से पूर्णरूपेण घुल जाये तो जो स्थान कवच द्वारा पहले घेरा हुआ था, रिक्त हो जायेगा। मूल कवच के घुलने से बनी यह गुहिका यदि कृत्रिम रूप से भर दी जाये तो इस प्रकार बने ढालित को कृत्रिम ढालित और यदि वह अन्तःस्त्रावी जलों में घुले खनिजों के निक्षेप से भर जाये तो उसे प्राकृतिक ढालित (Natural cast) कहते हैं।

5. अश्मीभवन (Petrification) – अश्मीभवन की क्रिया कवच या अस्थिपंजर और खनिजयुक्त जल या अन्य किसी अन्तःस्त्रावी घोलों के बीच रासायनिक प्रक्रिया द्वारा सम्पन्न होती है। यह प्रक्रिया अत्यन्त मन्द गति से होती है जिसमें प्रतिस्थापन की इकाई अणु या परमाणु होती है। जब खनिजयुक्त जल अवशेष के सम्पर्क में आते हैं तो प्रथम, अवशेष का एक अणु या परमाणु घुलकर अपनयित हो जाता है और उसका स्थान खनिज का अणु या परमाणु ले लेता है। अन्त में सम्पूर्ण अवशेष उस खनिज द्वारा प्रतिस्थापित हो जाता है। जिन खनिजों द्वारा अवशेष का प्रतिस्थापन होता है उनमें चूने का कार्बोनेट, सिलिका पाइराइट आदि मुख्य हैं। अश्मीभवन की क्रिया में प्रतिस्थापन की इकाई चूंकि अत्यन्त सूक्ष्म होती है इसलिए मूल अस्थिपंजर के आकार के साथ–साथ उसकी सूक्ष्म संरचना भी अश्मीभूत जीवाश्म में परिरक्षित हो जाती है। अश्मीभूत काष्ठ इस प्रकार के जीवाश्म का उत्तम उदाहरण है।

6. कार्बनीकरण (Carbonization) – कई प्राणियों का बहिःकंकाल (Exoskeleton) एक विशेष प्रकार के कड़े पदार्थ काइटिन का बना होता है, जैसे – ग्रेप्टोलाइट (Graptolites)।

ग्रेप्टोलाइट के बहिःकंकाल के काइटिन का प्रायः कार्बनीकरण हो जाता है। पेड़–पौधों से कोयले का निर्मित होना कार्बनीकरण का महत्वपूर्ण उदाहरण है। पेड़–पौधों के कार्बनिक पदार्थ का ताप और दबाव के कारण जैसे–जैसे अपघटन होता जाता है, नाइट्रोजन, हाइड्रोजन और ऑक्सीजन गैसें वायुमंडल में लीन होती जाती है और कार्बन का अनुपात क्रमशः बढ़ता जाता है। अन्ततः वनस्पति शुद्ध कोयले में परिवर्तित हो जाती है।

7. छाप का चिह्न (Prints) – प्राणियों के पद–चिह्न (Footprints) तथा पेड़–पौधों, पत्तियों और ऐसे प्राणियों की छापें जिनमें कवच या अस्थिपंजर नहीं होता, भी शिलाओं में परिरक्षित हो जाती है। ऐसे छापों की, बहुधा महीन अवसादों वाली शिलाओं जैसे – मृत्तिका और शेल (Shale) आदि में मिलने की सम्भावना अधिक होती है। यद्यपि ये छापें प्राणी की देह का कोई भाग नहीं होती तथापि ये प्राणी का किसी न किसी रूप में परिचय देती हैं, इसलिए इन्हें भी जीवाश्म माना जाता है। गोंडवाना शैलों में प्राप्त पौधों तथा उनके तनों की छाप इसके प्रमुख उदाहरण हैं।

8. बिल, वेधन और नलिकाएं (Burrows, Borings and Tubes) – कुछ प्राणी ठोस शिलाओं में बिल अथवा वेधन बनाकर रहते हैं। कुछ अन्य अपनी देह के आस–पास काइटिन अथवा चूनेदार पदार्थ (Calcareous material) का आच्छाद (sheath) या नलिका बनाकर रहते हैं। इन बिलों, वेधन अथवा नलिकाओं के अवशेषों की वर्तमान प्राणियों के बिलों आदि की तुलना कर पुरातनकाल के प्राणियों की प्रकृति और निवास के विषय में अनुमान लगाया जा सकता है। इसलिये इन्हें भी जीवाश्म माना जाता है।

9. पद–चिह्न, पद चिह्न लीक इत्यादि (Trail, Track etc.) – नर्म परत तथा महीन रेत पर विभिन्न कीट, केंचुए तथा अन्य प्राणियों के रेंगने या चलन के फलस्वरूप उनके पद या देह के किसी भाग के चिह्न बन जाते हैं जो कालान्तर में यदाकदा परिरक्षित पाये जाते हैं। ये किसी प्राणी के अवशेष नहीं होते, तथापि इनसे प्राणी की प्रकृति तथा उनके चलन–अंगों के विषय में जानकारी मिलती है। अतः इन्हें भी जीवाश्म माना जाता है।

जर्मनी में राइन नदी के किनारे बलुआ पत्थर में किसी कीट तथा छिपकली–समूह के पद–चिह्न मिले हैं जिससे जीवाश्म–विज्ञानियों ने यह निष्कर्ष निकाला कि छिपकली ने पीछा करते हुए कीट का अन्ततः शिकार कर डाला। उत्तर भारत के हिमालय क्षेत्र के केम्ब्रियन–पूर्व शैलों में कुछ चिह्न मिले हैं जिन्हें ट्राइलोबाइट के उपांग–चिह्न माना गया है।

10. कोपरोलाइट एवं अपशिष्ट (Coprolite and Castings) – प्राणियों की मुख्य आँतों से होकर बाहर निकला पदार्थ कभी–कभी परिरक्षित पाया जाता है। इस पदार्थ को कोपरोलाइट और अपशिष्ट कहते हैं।

जीवाश्मों के उपयोग और महत्व
(Uses and Importance of Fossils)

भू–विज्ञान, पुराप्राणि–विज्ञान और पुरा–वनस्पति– विज्ञान के अध्ययन में जीवाश्म का अपना विशेष महत्व है। जीवाश्म के अध्ययन के बिना उपर्युक्त विषयों का ज्ञान प्रायः अपूर्ण रहता है। जब हम यह जानने का प्रयत्न करते हैं कि पृथ्वी के धरातल पर जैव उद्भव के उपरान्त कौन–कौन से परिवर्तन हुए, चाहे वे प्राणी–विकास से सम्बन्धित हों, अथवा जलवायु, परिस्थिति–विज्ञान या वातावरण परिवर्तन से, हम देखते हैं कि जीवाश्म एक अत्यन्त महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। आगे के पृष्ठों पर दिये हुए वर्णन से जीवाश्म का महत्व स्पष्ट होता है।

1. कालानुक्रम महत्व (Chronological Significance) – सम्पूर्ण–भूवैज्ञानिक इतिहास को पाँच वृहत् इकाइयों में विभाजित किया गया है। प्रत्येक इकाई को महाकल्प (Era) कहते हैं जो क्रमशः आर्कियोजोइक (Archeozoic), प्राग्जीवी या प्रोटेरोजोइक (Proterozoic), पुराजीवी या पैलियोजोइक (Palaeozoic), मध्यजीवी या मेसोजोइल (Mesozoic), नूतनजीवी या सीनोजाइक (Cenozoic) महाकल्प के नाम से जाने जाते हैं।

उपरोक्त इकाइयों की शब्दावली से ही स्पष्ट है कि इनका नामकरण प्राणी–विकास की विभिन्न अवस्थाओं पर आधारित है। यथा, प्राग्जीवी अर्थात् प्राणी–विकास की प्रारम्भिक अवस्था, पुराजीवी अर्थात् पुरातन अवस्था, मध्यजीवी अर्थात् बीच की अवस्था इत्यादि। प्रत्येक महाकल्प को क्रमशः छोटे–छोटे अनुविभागों में विभाजित किया गया है जिन्हें क्रमशः कल्प (Period), युग (Epoch) और काल कहते हैं। उपर्युक्त अनुविभागों की अवधि में निर्मित शैल–समूहों को क्रमशः समूह (System), श्रेणी (Series) और समुदाय (Stage) कहते हैं। ऊपर वर्णित अवधि–इकाइयों (Time units) और शैल–अवधि–इकाइयों (Time-Rock Units) को निम्नलिखित रूप से सारणीबद्ध किया जा सकता है।

अवधि–इकाई	शैल–अवधि–इकाई
महाकल्प	संघ
कल्प	समूह
युग	श्रेणी
काल	समुदाय

स्तरित शैलों (Stratified rocks) के प्रत्येक समूह में कुछ अभिलक्षणिक जीवाश्म–समुच्चय (Characteristic assemblage) पाया जाता है। जीवाश्म समुच्चय के वंश और जातियों में कुछ ऐसे वंश और जातियाँ होती हैं जो केवल समूह विशेष की शैलों तक ही सीमित होती हैं। जीवाश्म के ये वंश और जातियाँ समूह

के अभिनिर्धारण (Identification) में सहायक होती हैं। इन जीवाश्मों को सूचक जीवाश्म कहते हैं। सूचक जीवाश्मों का विस्तृत वर्णन पिछले पृष्ठों में हम पढ़ चुके हैं।

शैल–अवधि की छोटी इकाइयाँ, श्रेणी और समुदाय भी जीवाश्म विशेष के वंश और जातियों की उपस्थिति से अभिलक्षणित होती हैं। ये अभिलक्षणिक जीवाश्म उस इकाई से निम्न अथवा उच्च इकाइयों में नहीं पाये जाते हैं।

कभी–कभी ऐसे उदाहरण मिलते हैं जब स्तरित शैल के गुणों में तो परिवर्तन नहीं होता, परन्तु ऊपर अथवा नीचे की ओर जाने से जाति विशेष के जीवाश्म की अधिकता पायी जाती है, अथवा वह क्रमशः पूर्णरूपेण अदृश्य हो जाती है। उपर्युक्त जीवाश्म–जातियों पर आधारित शैलों को अत्यन्त छोटी–छोटी इकाइयों में विभाजित किया जाता है जिन्हें प्राणि–समूह–कटिबन्ध (Faunal zones) कहते हैं। यह ध्यान देने योग्य बात है कि प्राणि–समूह–कटिबन्धों के जीवाश्म सामान्य रूप में एक दूसरे से भिन्न होते हैं, परन्तु इन कटिबन्धों के बीच कोई भौतिक अथवा जीवाश्मीय–भंग (Palaeontological break) नहीं होता।

2. स्तरीय–सहसम्बन्ध (Stratigraphic correlation) – अवसादी शैलों को सहसम्बन्धित करने में जीवाश्म अत्यन्त महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। जीवाश्मों को उनकी आयु के अनुसार व्यवस्थित करने से पूर्व यह आवश्यक है कि जीवाश्ममय शैलों (Fossiliferous rocks) की आपेक्षिक स्थिति का निर्धारण कर लिया जावे। ऐसे क्षेत्रों में जो वलित (Folded) अथवा प्रतिलोमित नहीं है, निम्नतम शैल सबसे प्राचीन और उपरितम शैल सबसे नवीन होते हैं। एक बार किसी क्षेत्र विशेष के शैलों का अनुक्रम तथा उसमें अन्तः स्थापित जीवाश्मों की आयु का निर्धारण हो जाने के पश्चात् किसी नये क्षेत्र के शैलों के जीवाश्मों के अध्ययन, और प्रारूपित क्षेत्र के जीवाश्मों से उनकी तुलना कर, उस नये क्षेत्र के शैलों की आयु का निर्धारण तथा मानक भू–वैज्ञानिक स्तम्भिका में उनकी स्थिति निश्चित की जा सकती है।

यद्यपि, सह–सम्बन्ध का उपर्युक्त नियम अत्यन्त महत्वपूर्ण है तथापि इसके उपयोग में कुछ व्यवधान भी हैं जिनका सूक्ष्म निरीक्षण कर समाधान करना अत्यन्त आवश्यक होता है। जीवाश्मों की सहायता से शैलों को सहसम्बन्धित करने में सबसे प्रमुख अवरोध विभिन्न ऐसे समकालीन जीवाश्म–समुच्चयों की आयु का निर्धारण करने में है जो विभिन्न वातावरणों को दर्शाते हैं। प्राणियों के गुण तथा आकार–प्रकार, जलवायु, तापमान, समुद्र की गहराई, प्रकाश आदि भौतिक परिस्थितियों पर निर्भर करते हैं। उपर्युक्त भौतिक परिस्थितियों पर निर्भर समकालीन परन्तु विभिन्न वातावरण में पाये जाने वाले प्राणि–समुच्चय के गुण धर्म भिन्न–भिन्न होंगे। उदाहरणतः बंगाल की खाड़ी में वर्तमान काल में जिस प्रकार के प्राणियों का जीवाश्मन हो रहा है वह इंग्लैण्ड के समुद्र में होने वाले जीवाश्मन से भिन्न होगा क्योंकि इन समुद्रों की भौतिक परिस्थितियाँ भी भिन्न हैं। जीवाश्मों का उपर्युक्त वैभिन्नय, आयु वैभिन्नय नहीं दर्शाता। ऐसी समस्या आने पर हर सम्भव उपायों और प्राप्त सूचनाओं के आधार पर शैलों को सहसम्बन्धित किया जाना चाहिए। बहुधा जीवाश्मों में सामान्य वैभिन्नय होने के बावजूद भी सूक्ष्म अध्ययन से कुछ ऐसे वंश और जातियाँ प्राप्त हो जाती हैं जो दोनों क्षेत्रों में उपस्थित होती हैं। उपर्युक्त वंश और जातियाँ सहसम्बन्ध में अत्यन्त सहायक होती हैं।

दूसरी समस्या जीवाश्मों के परिवहन (Transportation) से सम्बन्धित है। यह आवश्यक नहीं कि जिस स्थान पर प्राणी जीवनकाल में निवास करते हैं वहीं उनका जीवाश्म भी हो। कभी–कभी मृत्यु के उपरान्त उनके अवशेष परिवहन के फलस्वरूप निवास स्थान से दूर ऐसे शैलों में अन्तःस्थापित हो जाते हैं। जिनका निर्माण ऐसे वातावरण में हुआ हो जिसमें उक्त प्राणियों के निवास के लिए उपयुक्त परिस्थितियाँ नहीं पायी जाती हों। यदि इन शैलों और उनमें अन्तःस्थापित उक्त प्रकार के वाहित (Transported) जीवाश्मों का सूक्ष्म अध्ययन न किया गया तो तनिक–सी असावधानी से उन अवसादी शैलों के वातावरण को ही उनमें पाये जाने वाले जीवाश्मों का वातावरण मान लेने की गलती हो सकती है।

उपर्युक्त वर्णन से यह निष्कर्ष निकलता है कि जीवाश्म पर आधारित सहसम्बन्ध के विषय में अन्तिम निश्चय लेने में अत्यन्त सावधानी से कार्य करना चाहिए। साथ ही साथ जीवाश्मों के स्वरूप का – वे स्वस्थाने (*In Situ*) है अथवा वाहित – भी निश्चित ज्ञान होना चाहिए।

3. प्राणि–भूगोल तथा प्राणि–समूह–प्रवास (Zoogeography and Faunal migration) – वर्तमान की तरह प्राचीन काल में भी प्राणि–समूहों (faunas) के भौगोलिक वितरण में भौतिक परिस्थितियों के अनुसार विभिन्नता पायी जाती थी। जीवाश्मों की सहायता से विभिन्न भू–वैज्ञानिक काल में पाये जाने वाले प्राणि–समूहों का भौगोलिक वितरण नक्शों पर दर्शाया जा सकता है। यदि ऐसे नक्शे की एक श्रृंखला तैयार की जाये, जो विभिन्न भू–वैज्ञानिक काल में प्राणि–समूहों का भौगोलिक वितरण दर्शाते हो, तो प्राचीन से वर्तमान काल तक के उत्तरोत्तर नक्शे विभिन्न भू–वैज्ञानिक काल में प्राणि–समूहों के प्रवास की भिन्न–भिन्न अवस्थाओं को दर्शायेंगे, अर्थात् विभिन्न भू–वैज्ञानिक काल में पाये जाने वाले जीवाश्मों के भौगोलिक वितरण के अध्ययन की सहायता से प्राणि–समूहों के प्रवास की विभिन्न अवस्थाएं ज्ञात की जा सकती हैं। वर्तमान भारतीय घोड़ा मूलतः उत्तर अमेरिका का निवासी है। घोड़े के प्रवास का अध्ययन उसके जीवाश्मों से ही सम्भव हो सका।

4. पुरातन वातावरण और पुरा–भूगोल (Ancient environments and Palaeogeography) – जीवाश्मों के रूप और बनावट से प्राणी के निवास सम्बन्धी वातावरण का बहुत कुछ अनुमान लगाया जा सकता है, अर्थात् जिन शैल समूहों (Formations) में ये जीवाश्म पाये जाते हैं उनके अवसादन की परिस्थितियों का अनुमान लगाया जा सकता है। समुद्रीय वातावरण में निक्षेपित शैल–समूहों के जीवाश्म अलवण जलीय वातावरण और स्थलीय वातावरण से भिन्न होंगे। उपर्युक्त तथ्यों की सम्पुष्टि जीवाश्मों और उनकी ऐसी जीवित जातियों के तुलनात्मक अध्ययन से की जा सकती है, जो वर्तमान काल में, समुद्री अलवण जलीय अथवा स्थलीय वातावरण में पायी जाती है। इतना ही नहीं वरन् जीवाश्म–साहचर्य की सहायता से ऐसी जातियों के भी वातावरण का अनुमान लगाया जा सकता है जो पूर्णरूपेण विलुप्त हो चुकी हैं तथा जिनके वातावरण के प्रभाव के विषय में वर्तमान काल की जातियों से अनुमान लगाना सम्भव नहीं है। उदाहरणार्थ यदि कुछ जीवाश्म रेडियोलेरिया (Radiolaria), प्रवाल (Corals) अथवा ब्रेकियोपॉड (Brachiopods) के साहचर्य में पाये जाते हैं, तो स्वभावतया यह साहचर्य समुद्रीय वातावरण की ओर इंगित करता है, क्योंकि उपर्युक्त प्राणी केवल समुद्री वातावरण में पाये जाते हैं।

गुजरात के कच्छ, दक्षिण भारत के त्रिचनापल्ली एवं मध्यप्रदेश के धार और उमरिया के समीप के क्षेत्रों में ऐसे जीवाश्म प्राप्त हुए हैं जिनसे सिद्ध होता है कि इन क्षेत्रों में जुरैसिक, क्रिटेसियस और पेलीयोजोईक (पर्मीयन) काल में समुद्र था। इसी प्रकार जीवाश्मों के अध्ययन से सिद्ध होता है कि आज जहाँ संसार का सर्वाधिक ऊँचा पर्वत हिमालय स्थित है, वहाँ तृतीय महाकल्प में कभी लम्बा परन्तु संकरा सागर था जिसे टेथिस (Tethys) नाम से जाना जाता है।

यदि शैल समूह का अवसादन उथले समुद्र तथा तट के समीप के क्षेत्र में हुआ हो तो उस क्षेत्र के समुद्री–जीवाश्म स्थलीय प्राणियों और वनस्पतियों के जीवाश्मों के साहचर्य में पाये जायेंगे। वहाँ ऐसे प्राणियों के जीवाश्मों के मिलने की सम्भावना होगी जो उथले जल में चट्टानों में बिल बनाकर रहते हैं। उदाहरणतः फोलस (Pholus), लिथोफागा (Lithophaga) आदि।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि जीवाश्मों की सहायता से प्राचीन काल में समुद्री तट की स्थिति तथा जल और थल के वितरण अर्थात् पुरा–भूगोल का अनुमान भी लगाया जा सकता है।

5. पुरा–जलवायु (Palaeoclimate) – जीवाश्मों के अभिलक्षणों की सहायता से प्राचीनकाल जलवायु का भी अनुमान लगाया जा सकता है। वातावरण के अनेक घटकों में जलवायु सबसे महत्वपूर्ण घटक है। चूंकि समुद्री प्राणियों की अपेक्षा वनस्पतियों का वितरण तापमान पर अधिक निर्भर करता है अतः पुरा–जलवायु को ज्ञात करने में स्थलीय वनस्पति–समूह (Land flora) के जीवाश्म सबसे अधिक महत्व के सिद्ध हुए हैं। यह सर्वविदित है कि पर्मियन और कार्बनी कल्पों में गोण्डवाना महाखण्ड (Gondwanaland) एक विशेष प्रकार के वनस्पति–समूह से आच्छादित था, जिसे पर्मोकार्बोनिफेरस (Permocarboniferous) वनस्पति–समूह कहते हैं। यह वनस्पति–समूह पर्मियन और कार्बनी कल्पों में उष्ण–कटिबन्धी जलवायु की उपस्थिति की ओर इंगित करता है।

प्राणि–समूहों में भी कुछ ऐसे हैं जिनका विकास तथा वितरण जलवायु के सीमित परिसर में ही सम्भव होता है। प्रवाल ऐसे प्राणियों में सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। प्रवाल की अधिकांश जातियाँ उष्ण प्रदेशों के उथले जल में 80 मीटर की गहराई तक पायी जाती हैं। भित्ति निर्माणकारी–प्रवाल (Reaf-building corals) की अधिकतम वृद्धि के लिए अनुकूलतम तापमान (Optimum temperature) 77° से 86° F और गहराई 30 मीटर है। फोरामिनिफेरा (Foraminifera) तथा मोलस्का की कुछ किस्में भी जलवायु–विशेष की ओर इंगित करती हैं।

6. प्राचीन जीवन–अभिलेख (Record of ancient life) – जीवाश्म प्राचीन और वर्तमान जीवन की एक महत्वपूर्ण कड़ी सिद्ध हुए हैं। जीवाश्मों का अध्ययन जीव–वैज्ञानिकों के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण है, क्योंकि जीवाश्म के अन्तर्गत न केवल वर्तमान में पाये जाने वाले प्राणियों के पूर्वज, वरन् कुछ ऐसे प्राणी भी आते हैं, जो ग्रेप्टोलाइट (Graptolites), ट्राइलोबाइट (Trilobites) आदि, जो अब पूरी तरह से विलुप्त हो चुके हैं। इन विलुप्त प्राणियों का अध्ययन केवल उनके जीवाश्मों की सहायता से सम्भव है। इनका अध्ययन वर्तमान काल में पाये जाने वाले प्राणियों और वनस्पतियों के आपसी सम्बन्ध के विषय में महत्वपूर्ण प्रकाश डालता है। यदि जीवाश्मों का ज्ञान नहीं होता तो प्राणियों की वर्तमान विविधता तथा उनके वितरण की विशिष्टता को समझना अत्यन्त कठिन होता। कुछ प्रकरणों में जीवाश्म यह सिद्ध करने में सहायक हुए हैं कि बाह्य रूप से भिन्न दिखाई देने वाले आधुनिक प्राणि–समूहों के पूर्वज वास्तव में सम्बन्धित थे। उदाहरणतः आधुनिक पक्षी और सरीसृप (Reptiles) दो भिन्न प्राणी संघों के अन्तर्गत आते हैं, परन्तु उपरी जुरैसिक (Upper Jurassic) में पाये गये प्रथम पक्षी, आर्किऑप्टेरिक्स (Archaeopteryx) के अवशेष से यह सिद्ध होता है कि पक्षियों के पूर्वज सरीसृप हैं।

7. विकासीय महत्व (Evolutionary importance) – प्राणि–विकास के पक्ष में जो मूलभूत और अभिगृहीत प्रमाण जीवाश्मों से प्राप्त होते हैं, वे अन्य किसी वस्तु से नहीं मिलते। पुराजीवी महाकल्प (Palaeozoic Era) से अभिनव महाकल्प (Recent Era) की उत्तरोत्तर–स्तरित शैलों में पाये जाने वाले जीवाश्मों के अध्ययन से प्राणियों के विकास का एक अत्यन्त

सुस्पष्ट चित्र हमारे समक्ष उभरकर आता है कि कैसे एक के बाद एक अनगिनत जातियाँ अस्तित्व में आयीं, विकसित होकर अपनी जटिलता की सीमा और चरमोत्कर्ष पर पहुंची और फिर ह्रासोन्मुख हो, धीरे–धीरे पूर्णरूपेण विलुप्त हो गयीं, अथवा नये वातावरण और जलवायु के अनुसार स्वयं को अनुकूलित कर नये रूप और किस्मों में विकसित हो पुनः स्थापित हो गयीं। विकास का यह क्रम अनन्त है और अभी भी चल रहा है।

जीवाश्म अभिलेख पूर्णरूपेण दोषमुक्त नहीं है, तथापि सूक्ष्म अध्ययन से जातिवृत्त (Phylogeny) या जाति–इतिहास (Race History) केवल उत्तरोत्तर स्तरित शैलों के जीवाश्मों की सहायता से ही ज्ञात किया जा सकता है। उपर्युक्त अध्ययन से ज्ञात होता है कि प्राणियों की आकारिकी तथा अन्य आन्तरिक गुणों में वातावरण और जलवायु के अनुसार क्रमिक विकासीय परिवर्तन होते रहे हैं। उदाहरणतः स्लावोनिया (Slavonia) नामक स्थान के अतिनूतन शैलों (Pliocene rocks) में विविपैरस (Viviparus) के अनेक जीवाश्म–नमूने (Fossil specimens) पाये जाते हैं। इस आयु के निम्नतम और उपरितम संस्तर के विविपैरस के नमूनों में इतनी अधिक भिन्नता है कि प्रतीत होता है कि जैसे ये दोनों भिन्न–भिन्न जातियों के जीवाश्म हैं, परन्तु मध्यवर्ती संस्तरों के जीवाश्मों के श्रृंखलाबद्ध अध्ययन से स्पष्ट हो जाता है कि विकासीय परिवर्तनों के परिणामस्वरूप निम्नतम संस्तर की जाति, भिन्न दिखाई देने वाली उपरितम संस्तर की जाति में कैसे क्रमशः विकसित हुई।

तृतीय महाकल्प (Tertiary Era) के स्तनपायी प्राणियों में भी वातावरण और जलवायु के अनुसार क्रमिक विकासीय परिवर्तन हुए हैं। घोड़ा इसका सबसे उत्तम उदाहरण है। आदिनूतन (Eocene) संस्तर में आधुनिक घोड़े के पूर्वजों के जीवाश्म सर्वप्रथम पाये जाते हैं। इन जीवाश्मों में अग्र चार पदांगुलियाँ पायी जाती हैं, परन्तु बाद के संस्तरों में इनकी पदांगुलियों की संख्या क्रमशः तीन, दो और अन्त में घटकर, अतिनूतन शैलों के जीवाश्मों में आधुनिक घोड़ों की तरह केवल एक पदांगुली शेष रही। संख्या के उपर्युक्त परिवर्तनों के साथ–साथ प्राणी की साइज तथा दांतों की संख्या आदि में भी परिवर्तन हुए। ये सब परिवर्तन जीवाश्मों की सहायता से निर्धारित किये गये हैं।

8. वर्गीकरण (Classification) – साधारणतया, प्राणियों का वर्गीकरण उनके बाह्य लक्षणों, अर्थात् आकारिकी को आधार मानकर किया जाता है, परन्तु विकासीय प्रतिरूप और विकासीय सिद्धान्तों के अनुसार, जिनका वर्णन पिछले पृष्ठों में किया जा चुका है, केवल बाह्य लक्षणों पर आधारित वर्गीकरण वैज्ञानिक कसौटी पर पूर्णरूपेण खरा नहीं उतरता। बाह्य लक्षणों पर आधारित वर्गीकरण में अनेक कठिनाइयाँ आती हैं। उदाहरणतः समरूपता (Homoeomorphism) के अनुसार विकसित प्राणियों के बाह्य गुण इतने अधिक समान होते हैं कि केवल उनके आधार पर इन प्राणियों का अभिनिर्धारण करना असम्भव सा होता है। ऐसी स्थिति में समरूपी (Homoeomorphs) जातियों के, जो यथार्थ में दो विभिन्न जातियों से विकसित हुई हैं, एक ही संघ, वर्ग या अन्य किसी इकाई के अन्तर्गत वर्गीकृत किये जाने की भूल हो सकती है। इसी प्रकार की भूल समाभिरूपता तथा अपसरण इत्यादि विकासीय प्रवृत्ति वाले प्राणियों के वर्गीकरण में भी हो सकती हैं। उपर्युक्त उदाहरण से यह निष्कर्ष निकलता है कि प्राणियों के आदर्श और शुद्ध वर्गीकरण के लिए उनकी उत्पत्ति विषयक ज्ञान होना अत्यन्त आवश्यक है। प्राणियों की जातियों का उत्पत्ति विषयक ज्ञान उनके विकासीय इतिहास पर निर्भर करता है जो बहुत कुछ केवल जीवाश्मों के अध्ययन से प्राप्त होता है। जीवाश्म और उनके विकास संबंधी महत्व का वर्णन पिछले पृष्ठों में भी किया जा चुका है। प्राणियों के वर्गीकरण के लिए उनकी उत्पत्ति और विकास के विषय में ज्ञान होना अनिवार्य है। उपर्युक्त ज्ञान की प्राप्ति में जीवाश्म अत्यन्त महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं।

जैव संसार का वर्गीकरण
(Classification of Organic World)

जीवाश्म–विज्ञान विषय चूंकि पुरातन काल में पाये जाने वाले प्राणियों और वनस्पतियों दोनों के अवशेषों से सम्बन्धित हैं इसलिए इसका प्राणी–विज्ञान एवं वनस्पति विज्ञान से गहरा सम्बन्ध होना स्वाभाविक है।

किसी भी वर्गीकरण का उद्देश्य वस्तुओं को विभिन्न संवर्गों (categories) में व्यवस्थित ढंग से निर्दिष्ट करना होता है। जैसे–जैसे विभिन्न विषयों के ज्ञान में वृद्धि होती जा रही है, व्यवस्थित ढंग से अध्ययन का महत्व भी बढ़ता जा रहा है और वर्गीकरण क्रमशः विज्ञान की एक स्वतन्त्र शाखा के रूप में विकसित होता जा रहा है। इस शाखा को वर्गीकरण–नियम (Taxonomy or systematics) कहते हैं। प्राणियों और वनस्पतियों का वर्गीकरण उनके विभिन्न अभिलक्षणों के आधार पर किया जाता है। वर्गीकरण–जीवाश्म–विज्ञान (Systematic Palaeontology) में विभिन्न जीवाश्म–समूहों का अध्ययन उनकी क्रमिक जटिलता (Increasing complexity) के आधार पर किया जाता है।

जैव संसार को दो मुख्य भागों में विभाजित किया गया है: प्राणि–जगत (Animal kingdom) और वनस्पति–जगत् (Plant kingdom)। जीवाश्म–विज्ञान के पारिस्थितिकी (environmental and ecology) पर आधारित वर्गीकरण अधिक महत्वपूर्ण है।

प्राणि और वनस्पति–जगत अधिक बड़ी इकाइयाँ हैं। इन्हें क्रमशः छोटी इकाइयों में विभाजित किया गया है। जाति (species) ऐसी सबसे छोटी इकाई है जिसके अन्तर्गत वे प्राणी आते हैं

जिनमें एक या एक से अधिक विशिष्ट गुण विद्यमान हों। कई जातियाँ जो एक दूसरे से कुछ विशिष्ट गुणों द्वारा सम्बन्धित होती हैं, वंश (genus) बनाती हैं। समान गुणों वाली अनेक जातियों क मिलने से कुल (family) अनेक कुलों से गण (order) और सम्बन्धित गणों के मेल से वर्ग (class) बनते हैं। समान गुण वाले वर्गों से संघ (phylum) बनता है। इस प्रकार संघ मिलते–जुलते प्राणियों की सबसे बड़ी इकाई है।

उदाहरणतः मनुष्य को निम्नलिखित रूप से वर्गीकृत किया गया है :

जगत् (kingdom)	एनीमैलिया (animalia)
संघ (phylum)	कार्डेटा (chordata)
वर्ग (class)	मेमालिया (mammalia)
गण (order)	प्राइमेटिडा (primatida)
कुल (family)	होमिनिडी (hominidae)
जाति (species)	सेपियन्स (sapiens)
व्यक्ति (individual)	मोहन (Mohan)

विकासीय सिद्धान्त (Evolutionary Theory)

प्रत्येक प्राणी में, चाहे वह किसी भी प्रकार के वातावरण में रहता हो, समय के साथ–साथ विकासीय परिवर्तन होते रहते हैं। ये परिवर्तन डार्विन के सिद्धान्त के अनुसार निम्नलिखित घटकों द्वारा नियन्त्रित होते हैं :

1. आनुवंशिकता (Heredity), 2. विविधता (Variation),

3. जीवन संघर्ष अथवा प्रतिस्पर्धा (Struggle for existence or competition),

4. प्राकृतिक वरण और योग्यतम की उत्तरजीविका (Natural selection and survival of the fittest)।

1. आनुवंशिकता – आनुवंशिकता विकास की एक स्थिर घटक है। इसका महत्व सर्वप्रथम ग्रेगर मेंडल (Gregor Mendle, 1822-1884, Chekoslovakian monk) ने स्पष्ट किया। यह एक साधारण अनुभव की बात है कि बच्चों में अपने माता–पिता के अनेक गुण पाये जाते हैं। घोड़े का बच्चा घोड़ा ही होगा, गाय नहीं। इस प्रकार जनक (Parents) के गुणों के अपनी संतान में पारगमन (Transmission) को आनुवंशिकता कहते हैं। विज्ञान की इस शाखा को आनुवंशिक विज्ञान कहते हैं।

आनुवंशिक विज्ञान के अनुसार मनुष्य का प्रत्येक कोष (cell) अपने–आप में पूर्ण होता है, अर्थात् उसमें भी वे सब घटक उपस्थित होते हैं जो मनुष्य के गुणों जैसे नेत्रों का रंग, देह का रंग, बाल झड़ने की प्रवृत्ति, स्वादों की पसंद आदि का निर्धारण कहते हैं। ये सब गुण जनक के जीन्स के साथ–साथ संतान में पारगमित हो जाते हैं। इन गुणों का निर्धारण कोष के क्रामोसोम्स (Chromosomes) की संख्या पर निर्भर करता है।

2. विविधता – विविधता परिवर्तन और प्रकृति की एक प्रवृत्ति है। यद्यपि जनक की संतान जनक जैसी होती है, तो वह उससे इतनी भिन्न अवश्य होती है कि उसे व्यक्तिगत रूप से सरलता से पहचाना जा सकता है। मनुष्य का स्वभाव विविधता का उत्तम उदाहरण है। कोई मनुष्य सरल स्वभाव का होता है, तो कोई दुष्ट स्वभाव का, किसी में कठिन से कठिन कार्य करने की क्षमता है तो किसी में नहीं। एक साहसी है तो दूसरा कायर। उक्त और अन्य सैकड़ों ऐसे आनुवंशिक गुण हैं जो विभिन्न गुणों वाले जीन्स के आपस में विनिमय के फलस्वरूप व्यक्ति विशेष में विकसित होते हैं। विभिन्न गुणों वाले जीन्स के विनिमय के फलस्वरूप प्राणी की पीढ़ियों के गुणों में क्रमशः परिवर्तन आता जा रहा है।

3. जीवन संघर्ष और प्रतिस्पर्धा – अपने अस्तित्व को बनाये रखने के लिये प्राणियों को सर्वदा आपस में तथा प्रकृति की विषम परिस्थितियों के विरुद्ध अविरत संघर्ष करना पड़ता है। जनसंख्या की निरन्तर वृद्धि के कारण मनुष्य को भी स्थान, भोजन, वायु, प्रकाश और अन्य आवश्यक वस्तुओं के लिये कठिन संघर्ष करना पड़ रहा है।

4. प्राकृतिक वरण और योग्यतम की उत्तरजीविका– प्रायः प्रत्येक प्राणी गुण, स्वभाव और विषमताओं को सहने की शक्ति में दूसरे प्राणी से भिन्न होता है। कुछ ऐसे प्राणी होते हैं जिनकी वृद्धि का प्रारम्भ शीघ्र और तीव्र गति से होता है। उनकी पाचन शक्ति तीव्र और गतिशीलता अधिक होती है। अर्थात् ऐसे प्राणियों में अनुकूलशीलता (Adaptability) अधिक होती है तथा उनके विषम परिस्थितियों में जीवित रहने की सम्भावना अन्य प्राणियों की अपेक्षा अधिक होती है, परन्तु इसके विपरीत ऐसे प्राणी शीघ्र नष्ट हो जाते हैं जिनमें प्राकृतिक वातावरण के अनुसार अनुकूलता की क्षमता नहीं होती।

योग्यतम और उत्तरजीविता और प्राकृतिक वरण का आपस में सीधा सम्बन्ध है। योग्यतम (Fittest) वही प्राणी होगा जिसमें विषय परिस्थितियों और परिवर्तित वातावरण के अनुसार स्वयं को अनुकूलित करने की सबसे अधिक क्षमता होगी। उदाहरणार्थ घोंघों (Snails) में विभिन्न वातावरण में जीवित रहने की उद्भुत क्षमता होती है। ये समुद्र की 5,000 मीटर की गहराई से पर्वतों की 5,480 मीटर की ऊँचाई तक पाये जाते हैं तथा समुद्र से लेकर खारे जल (Brackish waters) अलवण जल और थलीय वातावरण–जैसी विभिन्न परिस्थितियों में पाये जाते हैं।

विकासीय प्रतिरूप या विकासीय पैटर्न (Evolutionary Patterns)

विकासीय प्रतिरूपों को सामान्यतया वंश–परम्परा (Lineage) भी कहा जाता है। जातिवंश–वृक्ष (Phylogenetic tree) की

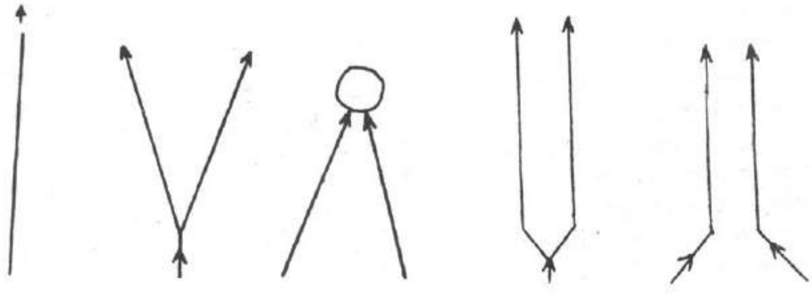

चित्र 6.1

सहायता से सर्वप्रथम फ्रेंच वैज्ञानिक लामार्क (Lamark, 1809) ने विकासीय प्रतिरूपों को दर्शाने की पद्धति का प्रतिपादन किया। उसने यह भी सिद्ध किया कि सामान्यतया सरल दिखने वाले विकासीय प्रतिरूप वास्तव में अत्यन्त जटिल होते हैं। लामार्क के अनुसार जातिवंश–वृक्ष की पीढ़ (Trunk) मूल प्रभव (Original stock) तथा शाखाएँ मूल प्रभव से विकसित विभिन्न प्राणी–समूहों को दर्शाती हैं। जाति–वंश–वृक्ष की शाखाओं से यदि पीढ़ की ओर क्रमशः अनुरेखित (trace) किया जाये तो उसके मूल प्रभव तक पहुँचाया जा सकता है।

जाति वंश–वृक्ष का सूक्ष्म रूप से अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि उसमें अनेक उप–प्रतिरूप (Sub patterns) पाये जाते हैं, जिनमें निम्नलिखित मुख्य हैं (चित्र 6.1) :

1. अपसरण (Divergence) – अपसरण में दो या दो से अधिक वंश परम्पराओं (lineages) का विकास इस ढंग से होता है कि वे अपने मूल पूर्वज (Original ancestral) जातियों से क्रमशः भिन्न होती जाती हैं।

2. समाभिरूपता (Convergence) – समाभिरूता अपसरण का विरुद्ध प्रतिरूप है जिसमें विकास एक केन्द्र की ओर इस प्रकार होता है कि दो या दो अधिक असम्बद्ध (Unrelated) जातियों से समान गुण वाली जातियाँ उत्पन्न हो जाती हैं।

3. समान्तर अवरोह (Parallel descent) – इनमें विकास मूल रूप से अपसरित (Divergent) या असम्बद्ध वंश–परम्पराओं का विकास समान्तर रूप से एक ही दिशा में होता है।

4. समरूपता (Homoeomorphy) – मूल रुप से असम्बद्ध, दो भिन्न समाभिरूपी (convergent) जातियों की एक ही दिशा में विकास की प्रवृत्ति को समरूपता कहते हैं। इस प्रकार विकसित जातियों के बाह्य गुण इतने अधिक समान होते हैं कि उन्हें केवल बाह्य गुणों के आधार पर एक दूसरे से पहचानना कठिन होता है। ऐसी स्थिति में उनके अभिनिर्धारण के लिये उनकी उत्पत्ति का ज्ञान होना आवश्यक है। ऐसी जातियों को समरूपी कहते हैं तथा इस घटना को समरूपता (Homoeomorphism) कहते हैं। समरूपता के उदाहरण ब्रेकियोपॉड और अमोनाइट में बहुतायत से मिलते हैं।

5. नियत–विकास (Orthogenesis) – एक दिशीय (Unidirectional) विकास–प्रवृत्ति को नियत–विकास कहते हैं। नियत–विकास के सिद्धान्त के अनुसार कुछ जातियों में अनेक अपसरित दिशाओं की अपेक्षा केवल एक दिशा में विकसित होने की जन्मजात प्रवृत्ति पायी जाती है।

प्राणी–विज्ञानी और कुछ जीवाश्म–विज्ञानी भी नियत विकास के सिद्धान्त की उपयोगिता को पूर्णरूपेण स्वीकार नहीं करते।

6. अनुत्क्रमणीयता का नियम (Law of Irreversibility) – इस नियम के अनुसार विकासीय दिशा में कभी भी उत्क्रमण नहीं होता, अर्थात् विकास सर्वदा अग्र दिशा में ही होता है। यदि किसी प्राणि समूह के किसी अंग विशेष अथवा अस्थिपंजर के किसी भाग का लोप हो जाता है तो उस वंश के प्राणि समूह में वह अंग कभी दोबारा विकसित नहीं होता।

अनुत्क्रमणीयता के नियम को सर्वप्रथम डोलो (Dollo) ने प्रतिपादित किया इसलिए यह डोलो का अनुत्क्रमणीयता का नियम के नाम से जाना जाता है।

निम्नलिखित समूहों की आकारिकी एवं भू–वैज्ञानिक इतिहास –

संघ : सीलेन्टरेटा
(Phylum : Coelenterata)

वर्ग एन्थोजोआ (Class: Anthozoa)

Anthozoa ग्रीक उद्‍भव का शब्द है (Anthos = पुष्प, Zoon = प्राणी)। पॉलिप के स्पर्शक फैलने के बाद वह पुष्प के समान दिखने लगता है, इसीलिए इन प्राणियों को एन्थोजोआ नाम प्राप्त हुआ है।

एन्थोजोआ वर्ग के अन्तर्गत आने वाले प्राणियों में प्रवाल और समुद्री एनीमोन मुख्य हैं। ये पूर्णरूपेण पॉलिपरूप (Polypoid) और समुद्री प्राणी हैं। बाह्य रूप से ये अरीय सममितिक दिखते हैं, परन्तु सूक्ष्म रूप से देखने पर विदित होता है कि वास्तव में ये द्विपार्श्विक सममितिक होते हैं। मुख–पथ (Stomodaeum) की उपस्थिति, आन्त्र–गुहिका या अंत्र (Coelenteron or Enteron) का खड़े अरीय विभाजनों (Radiating Partition), जिन्हें आन्त्र–योजी या मेसेन्टरी (Mesenteries) कहते हैं, द्वारा अनेक कोष्ठों में विभाजित होना तथा जनना तत्वों का मेडूसा की अपेक्षा आन्त्र–योजनी की अन्तस्त्वचा पर विकसित होना, एन्थोजोआ के कुछ ऐसे लक्षण हैं, जो हाइड्रोजोआ में नहीं पाये जाते।

सामान्य समुद्री एनीमोन या सरल प्रवाल की देह बेलनाकार होती है जिसका एक छोर संलग्न होता है तथा दूसरा छोर खुला होता है। खुले छोर को मुख कहते हैं। मुख के चारों ओर स्पर्शक पाये जाते हैं। मुखपथ द्वारा मुख अन्दर आन्त्र–गुहिका में खुला रहता है। आन्त्र–गुहिका खड़े अरीय आन्त्र–योजनी द्वारा कोष्ठों में विभाजित होती है। आन्त्र–योजनी नीचे आधार की ओर मुक्त होते हैं, परन्तु ऊपर की ओर मुखपथ से जुड़े रहते हैं। स्पर्शक आन्त्र–योजनी द्वारा निर्मित कोष्ठों के ऊपर स्थित होते हैं तथा प्रत्येक स्पर्शक के अन्दर का खाली स्थान अपने नीचे स्थित कोष्ठ से संलग्न होता है।

प्राणी की देह की तीन परतों – बाह्य त्वचा, मेसोग्लिया और अन्तस्त्वचा की बनी होती है। समुद्री एनीमोन में अस्थिपंजर नहीं पाया जाता, परन्तु एन्थोजोआ में बहिःकंकाल (Exoskeleton) बहुतायत से पाये जाते हैं जिनका निर्माण बाह्य कवच कोषों द्वारा होता है। कुछ एन्थोजोआ में आन्तरिक अस्थिपंजर पाया जाता है

चित्र 6.2: जॉएन्थेरियन (हेक्साकोरल) प्रवाल का पॉलिप–बाह्य एवं आंतरिक आकारिकी

जिसका निर्माण मेसोग्लिया के कोशों द्वारा होता है। एन्थोजोआ के सम्पूर्ण अस्थिपंजर को प्रवाल या कोरलम (Corallum) कहते हैं। संयुक्त प्रवाल में प्रत्येक पॉलिप के अस्थिपंजर को प्रवालनाल या कोरलाइट (Corallite) कहते हैं।

एन्थोजोआ वर्ग को पांच मुख्य उपवर्गों में विभाजित किया गया है –

(1) जोएन्थेरिया
(2) एल्सियोनेरिया
(3) टैबुलेटा
(4) रूगोसा
(5) साईजोकोरालिया

इनमें जोएन्थेरिया, रूगोसा व टैबुलेटा सर्वाधिक महत्वपूर्ण है।

उप–वर्ग जोएन्थेरिया

जोएन्थेरिया के अन्तर्गत आने वाले प्राणियों में प्रवाल सबसे मुख्य है। इनके अन्तर्गत समुद्री एनीमोन जैसे अन्य प्राणी भी आते हैं परन्तु इनमें अस्थिपंजर नहीं पाया जाता। जोएन्थेरिया को हेक्साकोरल (Hexacoral) के नाम से भी जाना जाता है।

1. गण स्क्लैरेक्टिना

जीवित एन्थीजोआ में स्क्लैरेक्टिना की संख्या सर्वाधिक है। इनके अन्तर्गत अश्म–प्रवाल (Stony Corals) और अन्य अनेक जीवाश्म–जातियाँ आती हैं। स्क्लैरेक्टिना के पॉलिप की संरचना प्रारूपिक समुद्री एनामोन जैसी ही होती है (चित्र 6.2)। अन्तर केवल इतना ही होता है कि स्क्लैरेक्टिना में अस्थिपंजर पाया जाता है, समुद्री एनीमोन में नहीं। इनमें एकल और कालोनी, दानों में अस्थिपंजर कैल्शियम के कार्बोनेट का बना होता है जो बाह्य त्वचा से स्त्रावित होता है।

अस्थिपंजर

प्रारूपिक सामान्य प्रवाल का अस्थिपंजर शंक्वाकार होता है, जिसका आधार थोड़ा अवनमित होता है। इस अवनमित भाग को कलश या कैलिक्स (Calyx) कहते हैं। जीवित अवस्था में पॉलिप इस कैलिक्स पर बैठने वाली जैसी स्थिति में पाया जाता है। प्रवाल या कोरलम बाह्य भित्ति से परिबद्ध होता है। कभी–कभी इस बाह्य भित्ति को परिबद्ध करते हुए एक चूनेदार परत और पाई जाती है, जिसे अधिप्रावरक (Epitheca) कहते हैं। अधिप्रावरक से घिरे स्थान को आंतरांग कोष्ठ (Visceral chamber) कहते हैं, जो विभिन्न प्रकार के विभाजनों द्वारा अनेक भागों में विभाजित होता है। इन विभाजनों में खड़ी पट्टिकाएँ, जिन्हें पट (Septa) कहते हैं, सर्वाधिक महत्वपूर्ण हैं। ये खड़े पट अस्थिपंजर के उपान्त से केन्द्र तक जाते हैं तथा इनकी स्थिति आन्त्र–योजनी से एकान्तर होती है। पट विभिन्न साइज के होते हैं। कुछ केन्द्र

तक पहुँचते हैं परन्तु कुछ की साइज छोटी होती है और ये केन्द्र तक नहीं पहुँचते। साइज के आधार पर इन्हें बहुधा श्रेणियों या चक्रों में विभाजित किया जाता है। बड़ी साइज के पटों को द्वितीयक और तृतीयक चक्र के पट कहते हैं। पटों की तरह आन्त्र–योजनी भी प्राथमिक, द्वितीयक और तृतीयक आदि चक्रों में पाये जाते हैं। प्राथमिक आन्त्र–योजनी का निर्माण सर्वप्रथम होता है तथा ये मुखपथ तक जाते हैं। द्वितीयक और तृतीयक चक्रों के आन्त्र–योजनी क्रमशः छोटी साइज के होते हैं तथा ये मुख–पथ तक नहीं जाते। आन्त्र–योजनी युग्मों में पाये जाते हैं। साधारणतः प्राथमिक और द्वितीयक आन्त्र–योजनी के छह युग्म तथा तृतीयक के बारह युग्म पाये जाते हैं। एक युग्म के दो आन्त्र योजनी के बीच के संकीर्ण स्थान को एन्टोसील (Entocoel) और दो निकटवर्ती युग्मों के बीच के चौड़े स्थान को एक्सोसील (Exocoel) कहते हैं।

पट और आन्त्र–योजनी के चक्रों की स्थिति में निश्चित सम्बन्ध होता है। प्राथमिक पट प्राथमिक आन्त्र–योजनी के एन्टीसील में तथा द्वितीयक और तृतीयक पट प्रमशः द्वितीय और तृतीयक आन्त्र–योजना के एन्टोसील में स्थित होते हैं।

प्रवाल के मध्य में, जहाँ प्राथमिक पट मिलते हैं, बहुधा एक छड़ जैसी संरचना होती है जिसे स्तम्भिका या कोलूमेला (Columella) कहते हैं। यह स्तंभिका प्रवाल के आधार से नीचे तक जाती है। इसकी संरचना में अत्यधिक विभिन्नता पाई जाती है। अविरल ठोस तथा कलश में घुंडीदार या नुकीली स्तंभिका को शूकाकार (Styliform) स्तंभिका कहते हैं। परन्तु कभी–कभी इसका ऊपरी भाग रंध्रयुक्त होता है, तब इसे स्पंजी स्तंभिका कहते हैं। जो स्तंभिका पटों से निकले प्रवर्धों के आपस में ऐंठन से निर्मित होता है उसे कूट स्तंभिका कहते हैं।

पटों के अलावा प्रवाह के अस्थिपंजर में एक और खड़े विभाजन पाये जाते हैं जिन्हें पाली (Pali) कहते हैं। पाली, स्तंभिका से संलग्न खड़ी अरीय पटलिकाएँ (Lamellae) होती हैं जो लघु पटों के अभिमुख स्थित होती हैं। पाली पटों के विकास से सूक्ष्म रूप से संबंधित होती हैं। निकटवर्ती पट के अभिमुख फलक छड़ों के द्वारा एक दूसरे से जुड़े रहते हैं। इस छड़ जैसी संरचना को पटबंध या साइनेप्टीकुलम (Synapticulum) कहते हैं।

पटबन्ध पटों के बीच में स्थित आंत्र–योजनी को छिद्रित करते हुए जाते हैं। पटबंध के समान ही निकटवर्ती पट बहुधा क्षैतिज या तिर्यक और सामान्यतः वक्र पट की सहायता से जुड़े रहते हैं। इन पटों को भित्ति–योजिका (Dissepiments) कहते हैं। कुछ जातियों में भित्तियों जिकाओं की संख्या, आन्तरंग कोष्ठ के उपान्त के पास, सबसे अधिक होती है जिसके फलस्वरूप स्पंजी या आशयी ऊतक (Vesicular tissue) का निर्माण होता है। ये भित्तियोजिकायें प्राणी के मांसल भाग को आधार प्रदान करती हैं। उपरोक्त संरचनाओं के अतिरिक्त आंतरांग कोष्ठ के मध्य में क्षैतिज पट पाये जाते हैं जिन्हें टैबुली (Tabulae) कहते हैं। पूर्ण विकसित होने पर इनका विस्तार आंतरांग कोष्ठ की सीमा के बाहर तक होता है। टैबुली सपाट, अवतल या उत्तर होते हैं तथा एक के ऊपर एक विन्यस्त होते हैं जिसके फलस्वरूप आंतरांग कोष्ठ अनेक क्षैतिज कक्षाओं में विभाजित हो जाता है। कुछ जातियों में पट प्रवाल–भित्ति के बाहर निकले होते हैं जिसके कारण भित्ति का बाह्य सतह पर कटक जैसी संरचना का निर्माण हो जाता है। इन कटकों को पर्शुका (Costae) कहते हैं।

भू–वैज्ञानिक वितरण

रूगोसा के पर्मियन में विलुप्त होने के पश्चात् कुछ काल तक प्रवाल नहीं पाये जाते। स्क्लैरेक्टिना का अभ्युदय मध्य ट्राइएसिक में हुआ। जुरैसिक में इनकी संख्या बढ़ी तब से वर्तमान तक ये बहुतायत से पाये जाते हैं।

2. उप वर्ग रूगोसा या टैट्राकोरल

रूगोसा विलुप्त प्रवाल का एक महत्वपूर्ण और विस्तृत समुदाय है। इसका वितरण केवल पुराजीवी महाकल्प तक ही सीमित है। प्रवाल–नाल की परिधि पर चार मुख्य पटों की उपस्थिति तथा कलश में सुविकसित पटों का चार क्षेत्रों में विन्यास इनका मुख्य लक्षण है। कलश के चार क्षेत्रों में विभाजन के कारण ही इन्हें टैट्राकोरला कहते हैं। प्रत्येक क्षेत्र को चतुर्थांश कहते हैं। अध्ययन की सुगमता की दृष्टि से इन चतुर्थांशों को क्रमशः वाम–मुख्य चतुर्थांश, दक्षिण मुख्य चतुर्थांश, वामप्रति चतुर्थांश और दक्षिण–प्रति चतुर्थांश कहते हैं। सरल प्रवाल में प्रति चतुर्थांशों की अभिवृद्धि मुख्य चतुर्थांशों की अपेक्षा बहुधा अधिक तीव्र होती है, इसलिए कलश का झुकाव मुख्य चतुर्थांशों की ओर अधिक होता है तथा प्रति–चतुर्थांशों में पटों की संख्या अधिक होती है। एकल रूप में बहुधा सीधा या वक्र शंक्वाकार बहिःकंकाल अथवा अस्थिपंजर पाया जाता है, जैसे जैफ्रेंटिस (Zaphrentis) में। उपरोक्त आकार के कारण इन्हें श्रृंग प्रवाल (Horn corals) भी कहते हैं।

अस्थिपंजर

प्रारूपिक रूगोसा–प्रवाल साधारणतः शंक्वकार या बेलनाकार होता है जो अरीय और संकेन्द्री पट्टिकाओं द्वारा अनेक कक्षों में विभाजित होता है। इसके अतिरिक्त रूगोसा प्रवाल की निम्नलिखित आकृतियाँ भी पाई जाती है (चित्र 6.3)।

1. टरबिनेट
2. डिस्कोईड
3. पेटेलेट
4. सिलेन्ड्रीकल
5. केल्सियोलोइड
6. सिरेटोइड
7. पिरेमिडल

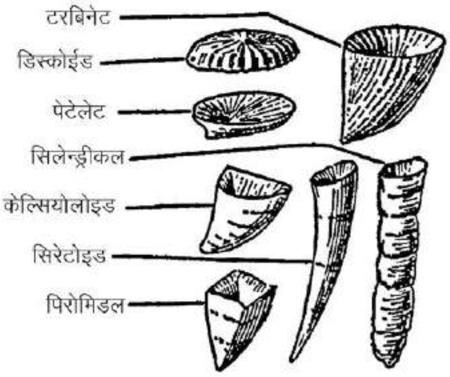

चित्र 6.3: रूगोसा (टेट्राकोरल) प्रवाल की विभिन्न आकृतियाँ

ये पट्टिकायें क्षैतिज, आनत और वक्र आदि विभिन्न रूप में विन्यस्त होती हैं। इनका वर्णन करने के लिए भिन्न–भिन्न पारिभाषिक शब्दावली का उपयोग किया जाता है। कंटक, कटक, गाँठ और नलिका आदि के विकास के कारण अस्थिपंजर की संरचना और जटिल हो जाती है।

अस्थिपंजर चूनेदार पदार्थ का बना होता है तथा इसकी संरचना रेशेदार होती है। एकल प्रवाल सरल तथा संयुक्त प्रवाल दुमाकृतिक या संपुजित होता है। प्रवाल–नाल के अन्त में अवनमित भाग को कलश या कैलिक्स कहते हैं (चित्र 6.4)। प्रवालनाम अधिप्रावरक से ढँका रहता है। सम्पूर्ण प्रवाल साधारणतः एक चूनेदार आच्छद से परिबद्ध होता है, जिसे पूर्ण–प्रावरक (Holotheca) कहते हैं। पट, विकसित होने वाली प्रथम आंतरिक संरचना है, इसलिए इनके गुण और लक्षण वर्गीकरण की दृष्टि से सर्वाधिक महत्वपूर्ण है।

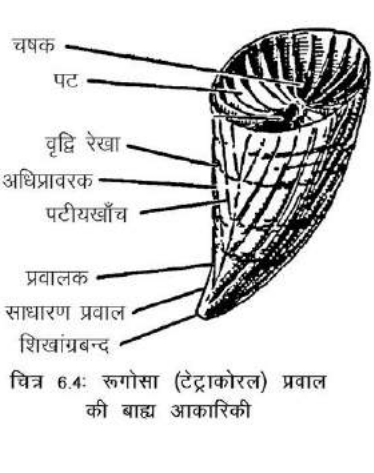

चित्र 6.4: रूगोसा (टेट्राकोरल) प्रवाल की बाह्य आकारिकी

पटों का विस्तार शीर्ष से कलश के आधार तक तथा प्रवाल–नाल की परिधि से अक्ष की दिशा में, अथवा पूर्णरूपेण अक्ष तक होता है। कभी–कभी ये केन्द्र में संलग्न और ऐंठनदार होकर अक्षीय–स्तम्भ अर्थात् स्तम्भिका का निर्माण करते हैं। पटों की दो मुख्य श्रेणियाँ होती हैं – अपेक्षाकृत अधिक लम्बे पट को मुख्य पट (Major septum) और छोटे पट का गौण पट (Minor septum) कहते हैं। पटों के विकास के अध्ययन से ज्ञात होता है कि वृद्वि की स्थिति में द्विपार्श्विक सममिति के तल में एक पट का निर्माण होता है जिसे अक्षीय पट कहते हैं। बाद में यह दो व्यासतः अभिमुख पटों में विभाजित हो जाता है। इसमें से जिस पट की लम्बाई अर्धव्यास से अधिक होती है उसे मुख्य पट (Cardinal septum) और जिसकी लम्बाई अर्धव्यास से कम होती है उसे प्रति–पट (Counter septum) कहते हैं। अक्षीय पट के विकास के कुछ समय उपरान्त उसके दोनों पार्श्वों में मुख्य छोर (Cardinal) की ओर एक–एक छोटी, खड़ी पट्टिकाओं का विकास होता है जिन्हें पक्ष पट (Alarsepta) कहते हैं। विकास की तीसरी अवस्था में प्रति छोर (Counter end) की ओर अक्षीय तट के दोनों पार्श्वों में एक–एक खड़ी पट्टिकाओं का निर्माण होता है जिन्हें प्रति पार्श्व पट (Counter Lateral Septa) कहते है। इसके उपरान्त विकास में थोड़ा अवरोध उत्पन्न होता है। इस अवरोध के पूर्व विकसित छह पटों (मुख्य, प्रति, दो पक्ष और दो प्रति–पार्श्व) का आद्य–पट (Protosepta) तथा अवरोध के उपरान्त विकसित मुख्य पटों को पश्च–पट (Metasepta) कहते हैं। आद्य पटों के विकास के बाद विभिन्न विधियों से अनेक पश्च और गौण पटों का निर्माण होता है और इस प्रकार प्रौढ़ प्रवाल में इनकी संख्या एक दर्जन से सौ या उससे भी अधिक होती है।

अनेक रूगोसा प्रवालों में, जैसे– जैफ्रेंथिस (Zaphrenthis), पटों के अर्ध या पूर्व वृद्धिरोध (Absorption) के कारण कलश के धरातल पर एक अवनमन का निर्माण हो जाता है, जिसे खातिका (Cardinal fossula) कहते हैं। साधारणतः केवल मुख्य खतिका ही पायी जाती है, परन्तु कुछ जातियों में पक्ष–खातिका (Alar fossula) और प्रति–खातिका (Counter Fossula) भी पायी जाती है जो प्रति पूर्व पाटों बीच स्थित होती है। एक से अधिक खातिकाओं के विकास के फलस्वरूप अस्थिपंजर की द्विपार्श्विक सममिति का लोप हो जाता है।

रूगोसा में भित्ति–योजिका, टैबुली, स्तम्भिका आदि सामान्यतः सुविकसित होती है।

भू–वैज्ञानिक वितरण

रूगोसा सर्वप्रथम निम्न आर्डोविशन में पाये गये। सिल्यूरियन और डिवोनी कल्पों में ये अपने चरम विकास पर पहुँच गये, परन्तु डिवोनी कल्प के बाद इनका ह्रास प्रारंभ हो गया तथा पर्मियन

के अन्त तक ये पूर्ण रूप से विलुप्त हो गये। सिल्यूरिन काल में यद्यपि रूगोसा अपने चरमोत्कर्ष पर थे तथापि टैबुलेटा की तुलना में इनकी संख्या गौण ही थी।

रूगोसा का भू–वैज्ञानिक वितरण सीमित होने के कारण इनमें से अनेक विश्वसनीय सूचक–जीवाश्म हैं। निम्न कार्बनी कल्प में ये विशेष रूप से स्तरित शैलविज्ञान की दृष्टि से महत्व के हैं, क्योंकि इस काल में अनेक उत्तम सूचक–जीवाश्म उपलब्ध हैं जिनका उपयोग कटिबन्धीय जीवाश्म (Zonal fossil) के रूप में किया गया है। इसमें जैफ्रेंटिस, जैफ्रेंटाइटीज (Zaphrentites) इत्यादि मुख्य हैं।

इंग्लैण्ड में निम्नकार्बनी कल्प के बाद रूगोसा कोरल नहीं पाये जाते। अन्य देशों की उपरि कार्बनी और पर्मियन शैलों में पाये जाते हैं परन्तु पर्मियन के अन्त तक वे विलुप्त हो चुके थे।

उप–वर्ग टैबुलेटा

टैबुलेटा विलुप्त प्रवाल है जो केवल पुराजीवी महाकल्प में ही सीमित है। आन्तरिक वेदी या मध्य पट जैसी संरचना की उपास्थिति इनका मुख्य लक्षण है। इन मध्य पटों को टैबुली कहते हैं जो अत्यन्त सुदृढ़ी होती है। इन टैबुली के कारण ही इनका नाम टैबुलेटा पड़ा।

टैबुलेटा के प्रवाल का आकार बहुधा प्रिज्मीय होता है। कभी–कभी प्रवाल का प्रत्येक–नाल एक दूसरे से असम्बद्ध रहता है। ऐसी स्थिति में प्रवाल–नाल एक दूसरे से सरलतापूर्वक अलग किये जा सकते हैं, परन्तु बहुधा प्रवाल–नाल आपस में भित्ति रन्ध्रों (Mural Pores) द्वारा सम्बन्धित रहते हैं (चित्र 6.5)।

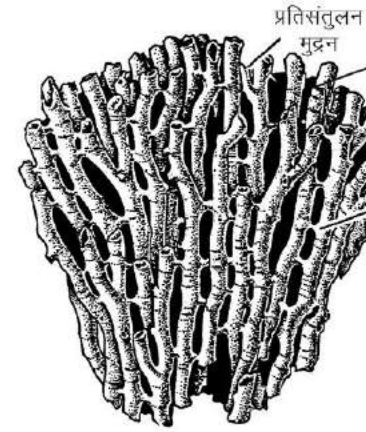

चित्र 6.5: टेबुलेटा प्रवाल (सीरिन्गोपोरा) की बाह्य आकारिकी

फैवोसाइटीज (Favosities), सिरिंगोपोरा (Syringopora) और हैलीसाइटीज (Halysites) आदि इस उपवर्ग की प्रमुख जातियाँ हैं।

टैबुलेटा के वर्गीकरण के विषय में वैज्ञानिक एकमत नहीं है, क्योंकि विलुप्त होने के कारण इनके पॉलिप और मांसल भाग के विषय में कुछ भी ज्ञात नहीं है। इस उपवर्ग और एल्सियोनैरिया की कुछ जीवित जातियों में अत्याधिक समानता है, उदाहरणतः सिरिंगोपोरा और ट्यूबीपोरा (Tubipora) तथा हैलियोलाइटीज और हैलियोपोरा अत्यधिक मिलते–जुलते हैं। अतः कुछ लेखक इन्हें एल्सियोनैरिया से सम्बन्धित करते हैं, परन्तु कुछ अन्य लेखक इस मत से सहमत नहीं है और इन्हें फैवोसाइटीज और जीवित एल्वियोपोरा (Alveopora) की संरचना में समानता के आधार पर जोएन्थेरिया के अधिक निकट मानते हैं।

भू–वैज्ञानिक वितरण

टैबुलेटा अपने अस्तित्व में सर्वप्रथम मध्य–आर्डोविशन में आये। सिल्यूरियन एवं डिवोनी में ये बहुतायत से पाये जाते हैं। इसके बाद इनकी संख्या में कमी होती गयी तथा पुराजीवी महाकल्प के अंत तक ये पूर्णरूप से विलुप्त हो गये।

संघ : आर्थ्रोपोडा
(Phylum : Arthropoda)

वर्ग ट्राइलोबाइटा (Class Trilobita)

ट्राइलोबाइट समुद्री जल में पाये जाने वाले प्राणियों का समूह है। यह समूह पूर्णरूपेण विलुप्त हो चुका है जो केवल पैलिओजोइक तक ही सीमित है। ट्राइलोबाइट सर्वप्रथम इस धरातल पर अवतरित तथा सरलता से प्राप्त जीवाश्मों में से होने के कारण वैज्ञानिकों की रुचि के विशेष विषय रहे, जिसके फलस्वरूप इनका अध्ययन अत्यन्त विस्तार से हुआ।

ट्राइलोबाइट की देह का आकार बहुधा अण्डाकार होता है। देह को अनुदैर्ध्य खाँचों, जिन्हें अक्षीय–खाँच (Axial-furrow) कहते हैं, के द्वारा तीन भागों में विभाजित रहती है। मध्य भाग को अक्षीय पालि (Axial lobe) और बाजू के दोनों भागों को पार्श्व पालि (Pleural lobe) कहते हैं। इस त्रिविभागीय विभाजन के कारण ही इन प्राणियों का नाम ट्राइलोबाइट पडा। इनका पृष्ठ (Dorsal) थोड़ा उन्नत तथा अधर चपटा होता है। ट्राइलोबाइट का बहिःकंकाल (Exoskeleton) काइटिन का बना होता है, जिसे दृढ़ता प्रदान करने हेतु बहुधा कैल्शियम कार्बोनेट और कैल्शियम फास्फेट भी पाया जाता है। बहिःकंकाल कई खण्डों (Segments or Somites) में विभाजित रहता है खण्डों के बीच का अध्यावरण (Integument) नर्म और लचीला होता है जिससे प्राणी को संचलन में सरलता होती है। जीवित अवस्था में प्राणी के अधर

भाग पर प्रायः प्रत्येक खण्डों में एक–एक उपांग–युगल (Pair of appendages) तथा शीर्ष (Head) के नीचे अग्र भाग की ओर एक युगल लघु–शृंगिकाओं (Antennules) को होता है। उपांग तथा शृंगिकाएँ अत्यन्त सुकुमार होने के कारण विरल स्थिति में ही जीवाश्म में परिरक्षित हो पाती हैं। ऐसा ही जीवाश्म ट्राईआरर्थस (Triarthrus) है जिसमें उपांग और लघु–शृंगिकायें भी परिरक्षित हैं।

बहिःकंकाल (Exoskeleton)

ट्राइलोबाइट का बहिःकंकाल पृष्ठ परिरक्षक (Dorsal Shield) और अधर परिरक्षक (Ventral Shield) इन दो भागों का बना होता है। अधर–परिरक्षक चूंकि चूनेदार नहीं होता, इसलिए मृत्यु के उपरान्त यह भाग बहुधा नष्ट हो जाता है और साधारणतः जीवाश्म में परिरक्षित नहीं होता। पृष्ठ–परिरक्षक प्राणी के पूरे उपान्त पर कुछ दूरी तक अधर भाग पर मुड़ा होता है। इस शेल्फ जैसे मुड़े भाग को डबल्योर (Doublure) कहते हैं।

पृष्ठ–परिरक्षक को मुख्य तीन भागों में विभाजित किया जाता है। अग्र भाग को शीर्ष (Head or Cephalon), मध्य भाग को वक्ष (Thorax) और पश्च भाग को पाइजिडियम (Pygidium) कहते हैं (चित्र 6.6)। शीर्ष और पाइजिडियम के खंड एक दूसरे से संयुक्त होते हैं परन्तु वक्ष के खंड मुक्त होते हैं। वक्ष के खंडों में एक दूसरे पर सूक्ष्म रूप से सरकने (Slide) की क्षमता होती है जिससे प्राणी के चलन में सहूलियत होती है।

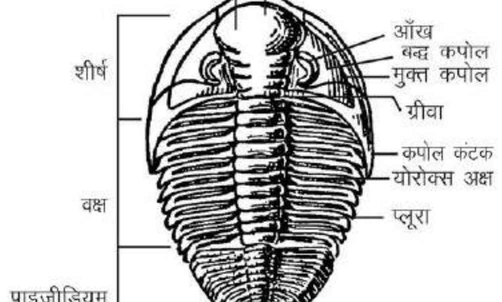

चित्र 6.6: ट्राइलोबाइटा का बाह्य कंकाल

शीर्ष (Head or Cephalon)

शीर्ष बहिःकंकाल का सबसे अग्र भाग है। ट्राइलोबाइट का सबसे महत्वपूर्ण अंग शीर्ष ही है, क्योंकि प्राणी के विकास की विभिन्न अवस्थाओं में अनेक महत्वपूर्ण परिवर्तन इसी भाग में होते हैं। केवल शीर्ष के अध्ययन की सहायता से ही अनेक ट्राइलोबाइट का अभिनिर्धारण किया जा सकता है। शीर्ष बहुधा अर्ध वृत्ताकार (Semi-Circular), अर्ध–दीर्घ–वृत्ताकार (Semi-Elliptical) या कभी–कभी त्रिभुजीय होता है जो पाँच से सात अग्र शीर्षखंडों (Cephalic segments) का बना होता है। ट्राइलोबाइट के सम्पूर्ण बहिः कंकाल की तरह यह भी दो अक्षीय खाँचों के द्वारा तीन भागों में विभाजित होता है। अक्षीय भाग शेष पार्श्व भागों से अपेक्षाकृत अधिक उन्नत होता है जिसे स्थपनी (Glabella) कहते हैं।

स्थपनी अनुप्रस्थ खाँचों की सहायता से बहुधा एक अग्र पालि (Anterior lobes) और दो या तीन पश्च पालि (Posterior lobes) में विभाजित होता है। स्थपनी का पश्च भाग, देह के शेष भाग से, अनुकपाल खाँच (Occipital furrow) द्वार अनुकपाल वलय (Occipital ring) में विभाजित होता है। स्थपनी की अनुप्रस्थ खाँचें, जिन्हें स्थपनी खाँच कहते हैं, कभी–कभी मध्य में एक दूसरे से नहीं मिलती और इस प्रकार वे केवल पार्श्व–खाँचों के रूप में ही पाई जाती हैं। इन खाँचों का विकास की दृष्टि से महत्वपूर्ण स्थान है। प्राणी के विकास के साथ–साथ स्थपनी–खाँचों की प्रवृत्ति क्रमशः अस्पष्ट होने की ओर होती है और अन्त में अनुकपाल खाँचों को छोड़कर, शेष पूर्णरूपेण लुप्त हो जाती है। खाँचों के विलोप की यह प्रवृत्ति स्थपनी के अग्र से प्रारंभ होकर क्रमशः पश्च भाग की ओर होती है। अगेती और आदिम ट्राइलोबाइट में ये खाँचें सुस्पष्ट और साफ पाई जाती हैं परन्तु बाद की जातियों में क्रमशः अस्पष्ट होती जाती है और अन्त में उनका लोप हो जाता है।

स्थपनी की आकृति और साइज में विभिन्न जातियों में भिन्नता पाई जाती है। यह छोटा, पूरे शीर्ष के केवल सूक्ष्म भाग को घेरे अथवा बड़ा शीर्ष के अधिकतम भाग को घेरे हुए हो सकता है। साधारणतः यह अग्र की ओर चौड़ा और पश्च की ओर संकरा, उदाहरणतः पैराडाक्साइडीज (Paradoxides), अथवा इसके विपरीत, अग्र की ओर संकरा और पश्च की ओर चौड़ा हो सकता है, उदाहरणतः जेकेन्थाइडीज (Zacanthoides)।

स्थपनी के दोनों पर्श्वों में स्थित, शीर्ष भाग को कपोल (Cheeks) कहते हैं जो स्थपनी से दो अक्षीय–खाँचों के द्वारा विलगित होते हैं। ये कपाल शीर्ष के अग्र भाग में स्थित उपान्त–खाँच के द्वारा शेष भाग से पृथक होते हैं। कपोलों का आकार बहुत कुछ त्रिकोणीय होता है। कपोल स्थपनी की अपेक्षा कम उन्नत होते हैं तथा बहुधा चपटे अथवा थोड़े अवतल सीमान्त के द्वारा परिवेष्ठित (Bordered) होते हैं। ये सीमान्त ट्राइन्यूक्लियस (Trinucleus) और हारपेस (Harpes) में अपेक्षाकृत अधिक चौड़े होते हैं।

प्रत्येक कपाल एक सीवन के द्वारा दो भागों में विभाजित होता है। इस सीवन को आननी सीवन (Facial Suture) कहते हैं। कपोल के बाह्य भाग को मुक्त–कपोल (Free-Check) और

स्थपनी के निकटवर्ती भाग को बद्धकपोल (Fixed-Cheek) कहते हैं। मुक्त–कपोल बद्ध–कपोल पर सूक्ष्म रूप से इधर–उधर सरक सकता है तथा शेष शीर्ष से अलग हो सकता है। स्थपनी और बद्ध–कपोल के सम्मिलित भाग को उर्ध्व कपाल (Cranidium) कहते हैं। शीर्ष के पार्श्व और पश्च उपान्त के बीच के कोण को कपोल कोण (Genal Angle) कहते हैं। कपोल–कोण गोलाई लिये हुए होते हैं, उदाहरणतः कालीमिनी (Calymene)। परन्तु जब ये लम्बे नुकीले शूल जैसे होते हैं, जैसे – पैराडाक्साइडीज (Paradoxides), तब इन्हें कपोल कंटक (Genal Spines) कहते हैं।

आननी–सीवन की स्थिति विभिन्न जातियों में एक जैसी नहीं होती। बद्ध–कपोल और मुक्त–कपोल का छोटा अथवा बड़ा होना आननी–सीवन की स्थिति पर ही निर्भर करता है। उदाहरणस्वरूप इल्लिनस (Illaennus) में मुक्त कपोल छोटा तथा फिलिप्सिया (Phillipsia) में बहुत बड़ा होता है। कपोल–कोण बद्ध–कपोल का भाग होगा अथवा मुक्त–कपोल का, यह भी आननी–सीवन की स्थिति पर निर्भर करता है। यदि आननी सीवन शीर्ष के पश्च भाग से प्रारंभ होकर उग्र उपान्त तक जाती है तो कपोल–कोण मुक्त कपोल का भाग होगा, परन्तु यदि यह शीर्ष के पार्श्व उपान्त से प्रारंभ होकर अग्र की ओर जाती है तो इस स्थिति से प्रारंभ होकर अग्र की ओर जाती है तो इस स्थिति में कपोल–कोण बद्ध कपोल का भाग होगा। प्रथम स्थिति को ऑपिस्थोपैरियन (Opisthoparian) और बाद वाली स्थिति को प्रोपैरियन (Proparian) कहते हैं।

शीर्ष–सीवनों (Cephalic sutures), विशेष रूप से आननी–सीवन का ट्राइलोबाइट के वर्गीकरण और व्यक्ति–वृत्त की दृष्टि से बड़ा महत्व है। ऊपर के विवरण के अनुसार आननी–सीवन शीर्ष के पश्च अथवा पार्श्व भाग से प्रारंभ होकर अग्र उपान्त पर एक दूसरे से मिल जाती है अथवा अधर में स्थित डबल्योर तक जाती है। डबल्योर के आननी–सीवन के इस भाग को संयोजी–सीवन (Connecting Suture) कहते हैं। शीर्ष डबल्योर (Cephalic Doublure) के मध्य में तथा मुख के सामने और नीचे की ओर स्थित एक अण्डाकार पट्टिका होती है जिसे हाइपोस्टोम (Hypostome) या लेब्रम (Labrum) कहते हैं। हाइपोस्टोम डबल्योर से हाइपोस्टोमी सीवन (Hypostomal Suture) के द्वारा पृथक होता है कभी–कभी संयोजी–सीवन एक अनुप्रस्थ सीवन के द्वारा जुड़ जाती है और हाइपोस्टोम से अग्र एक पट्टिका पृथक हो जाती है जिसे रोस्ट्रम (Rostrum) तथा अनुप्रस्थ सीवन को रोस्ट्रमी सीवन (Rostral Suture) कहते हैं।

नेत्र ट्राइलोबाइट का एक महत्वपूर्ण अंग है जो मुक्त–कपोल पर उस स्थान पर स्थित होते हैं जहाँ आननी–सीवन कोण–सा बनाती है। नेत्र बहुधा संयुक्त होते हैं और अनगिनत लैन्सों के बने होते हैं। कभी–कभी इन लैन्सों की संख्या 15 हजार तक पाई जाती है, उदाहरणतः रेमोप्लुराइड (Remopleuride)। नेत्रों की संरचना अत्यन्त जटिल होती है तथा विभिन्न जातियों में इनका आकार और स्थिति भिन्न–भिन्न होती है। ये बहुधा शंक्वाकार होते हैं। शंकु का शीर्ष गोलाई लिए हुए या रुंडित (Truncated) होता है। कभी–कभी नेत्र, सरल, केवल एक या एक से कुछ अधिक लैन्सों के बने होते हैं। उदाहरणस्वरूप, ट्राइन्यूक्लियस (Trinucleus) के नेत्र केवल एक और हारपेस (Harpes) के दो या तीन लैन्सों के बने होते हैं।

निम्न और मध्य केम्ब्रियन में पाये जाने वाले ट्राइलोबाइट पूर्णरूपेण नेत्रहीन होते हैं परन्तु इनमें नेत्र के स्थान पर स्थपनी के अग्र भाग के बीच एक महीन कटक पाया जाता है जिसे आननी–कटक (Facial Ridge) कहते हैं।

वक्ष (Thorax)

प्राणी के विकास की प्रथम अवस्थाओं में ही वक्ष के विकास के प्रायः सभी महत्वपूर्ण परिवर्तन हो चुके होते हैं इसलिए ट्राइलोबाइट में वक्ष के अध्ययन का महत्व अन्य भागों की अपेक्षा कम है। वक्ष अनेक खण्डों का बना होता है। खण्डों की संख्या विभिन्न जातियों में भिन्न–भिन्न पाई जाती है जो कम से कम दो, जैसे – एगनॉस्टस (Agnostus) से लेकर अधिकतम चौवालिस, जैसे – पीड्युमियस (Paedumias) तक होती है। खण्डों का संधि (Articulation) कुछ इस प्रकार की होती है कि वे एक दूसरे पर सूक्ष्म रूप से सरक सकते हैं। खण्डों की इस प्रकार की सन्धि खतरे के समय प्राणी के बेल्लित (Rolled) होने में सहायक होती है तथा बेल्लित अवस्था में अन्दर के मांसल भागों की रक्षा करती है। दो खण्डों के बीच की इस सन्धि को सन्धि–खाँच कहते हैं। वक्ष दो अक्षीय–खाँचों के द्वारा तीन भागों में विभाजित करता है। मध्य के अपेक्षाकृत अधिक उन्नत भाग को अक्षीय पालि और पार्श्व के दो भागों को अक्षीय पालि की अपेक्षा कम उन्नत होते हैं, पार्श्वक (Pleura) कहते हैं। पार्श्वक चिकने अथवा खाँचदार होते हैं। इस खाँच को पार्श्वक–खाँच (Pleural furrow) कहते हैं प्रत्येक अक्षीय –पालि का अग्र भाग आगे कुछ इस भांति बढ़ा हुआ होता है और सामने के खण्ड के पश्च भाग के नीचे निविष्ट (Inserted) होता है कि यह केवल प्राणी की बेल्लित अवस्था में ही दिखता है प्रत्येक पार्श्वक अक्ष से कुछ दूरी पर नीचे ओर पीछे की ओर मुड़ा होता है। इस प्रकार से बनी वक्रता को आलम्ब (Fulcrum) कहते हैं आलम्ब से बाह्य तक पार्श्वक के शेष भाग का फलक (Facet) कहते हैं। पार्श्वक का छोर कुछ जातियों में गोलाईदार और कुछ में नुकले शूल की तरह बढ़ा होता है।

वक्ष के खण्डों की संख्या और पाइजिडियम की साइज में विशेष सम्बन्ध है। जिन प्राणियों में वक्ष के खण्डों की संख्या कम होती उनकी पाइजिडियम ऐसे प्राणियों की पाइजिडियम से

तुलनात्मक दृष्टि से बड़ी होती है जिनमें वक्ष के खण्डों की संख्या अपेक्षाकृत अधिक है। उदाहरणस्वरूप, एगनास्टस (वक्ष–खण्डों की संख्या दो) और इओडिस्कस (Eodiscus) (वक्ष–क्षण्डों की संख्या दो या तीन) (चित्र 6.7) की पाइजिडियम, पेराडाक्साइडीज (वक्ष–खण्डों की संख्या सोलह से बीस) की पाइजिडियम से बड़ी होती है।

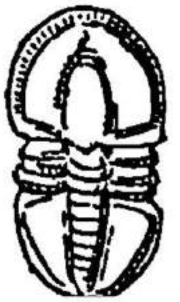

चित्र 6.7: इओडिस्कस

नये खण्डों की उत्पत्ति वक्ष के अंतिम खण्ड और पाइजिडियम के प्रथम खण्ड के मध्य से होती है। कुछ ट्राइलोबाइट में विकास के साथ–साथ वक्ष के खण्डों की संख्या में वृद्धि होती है, परन्तु अधिकांशतः वक्ष के खण्ड पाइजिडियम से संयुक्त होते जाते हैं और इस तरह के खण्डों की संख्या क्रमशः घटती और पाइजिडियम के खण्डों की संख्या तथा उसकी साइज बढ़ती जाती है। वैज्ञानिकों का यह अनुमान कि कम वक्ष–खण्डों वाली जातियाँ, जैसे – एगनास्ट्स, अधिक वक्ष–खण्डों वाली प्रजातियों, जैसे – पेराडक्साइडीज की अपेक्षा अधिक विकसित और विशिष्ट (Specialized) हैं, उपर्युक्त तथ्य पर आधारित है।

पाइजिडियम (Pygidium)

पाइजिडियम ट्राइलोबाइट के बहिःकंकाल का तीसरा और अन्तिम पश्च भाग है यह बहुधा त्रिकोणीय या अर्धगोलाकार होती है। यह वक्ष की तरह अनेक खण्डों की बनी होती है। खण्डों की संख्या दो से इक्कीस तक पायी जाती है। ये एक दूसरे से दृढ़तापूर्वक संलग्न होते हैं और इस प्रकार वक्ष के खण्डों की तरह एक दूसरे पर सरक (Move) नहीं सकते। संलग्न होने के कारण एक दूसरे से उतने स्पष्ट रूप से पृथक भी नहीं दिखते। कुछ प्रजातियों में वक्ष और पाइजिडियम में इतनी अधिक समानता होती है कि उन्हें एक दूसरे से पहचानना कठिन होता है, जैसे – एगनास्ट्स (Agnostus) परन्तु अन्य में ये एक दूसरे से अत्यधिक भिन्न होते हैं। कुछ ट्राइलोबाइट में शीर्ष के बाद के सभी खण्ड एक दूसरे से अलग होते हैं और इस तरह यह शेष भाग वक्ष और पाइजिडियम में विभक्त नहीं होता, अर्थात् इनमें पाइजिडियम नहीं पायी जाती है, जैसे – आलिनेल्लस (Olenellus)।

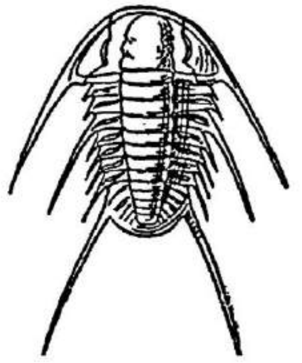

चित्र 6.8: अल्बरटेला

वक्ष की तरह पाइजिडियम भी दो अक्षीय–खाँचों के द्वारा तीन भागों में विभाजित रहती है जिन्हें क्रमशः मध्य या अक्षीय–पालि और पार्श्व–पालिक कहते हैं। कुछ ट्राइलोबाइट में अक्षीयपालि का भाग बहिःकंकाल के पश्च तक जाता है, जैसे – कालीमिनी (Calymene) परन्तु अन्य में पश्च तक पहुँचने के पूर्व ही लुप्त हो जाता है, जैसे स्कुटेलम (Scutellum)। पाइजिडियम का पश्च उपान्त या तो सरल (Entire) होता है अथवा एक पश्च शूल या दो पार्श्व शूलों (Lateral Spines) सहित होता है। इन शूलों को पुच्छीय शूल (Caudal Spines) कहते हैं (चित्र 6.8)। अल्बरटेला पाइजिडियम का पश्च पृष्ठ–उपान्त शीर्ष के उपान्त की तरह अधर की ओर कुछ दूरी तक मुड़ा होता है जिसे पाइजिडियम का डबल्योर (Pygidial doublure) कहते हैं।

ट्राईलोबाइटा भू–वैज्ञानिक वितरण

ट्राईलोबाईट एक महत्वपूर्ण सूचक जीवाश्म (Index fossil) के रूप में उपयोगी है। इनकी भू–वैज्ञानिक आयु अत्यन्त सीमित होते हुए, ये भौगोलिक दृष्टि से विस्तृत क्षेत्रों में पाये जाते हैं। इनका भू–वैज्ञानिक वितरण केवल पैलियोजोईक तक ही सीमित है। सर्वप्रथम ये निम्न केम्ब्रियन काल में पाये गये। उस काल के महत्वपूर्ण जीवाश्म में ओलेनेलस, होलमिया, एगनोसटस, माईक्रोडिसकस एवं रेडलीचिया थे। मध्य केम्ब्रियन काल में पेराडॉक्साईड, एगनोसटस, सोलेनोप्लुरा, कोनोकोरीफी एवं माइक्रोडिसकस थे। ऊपरी केम्ब्रियन काल में ओलेनस, पेलटूरा, ट्राईआरथस, डाईकिलोसिफेलस एवं एसाफैलस जीव महत्वपूर्ण थे। ओर्डोविसीयन काल में ये चरमोत्कर्ष पर थे। इस काल में एगनोसटस, ट्राईन्यूक्लीयस, ओजीगिया, एसाफस, ईलीयानुज, केलीमिन, लाईकाज एवं एमपिक्स की बहुतायत थी। सिलुरियन काल में कैलीमिन, फेकोप्स, डालमानाईटिज, चैरूरस, एसीडासपीस, प्रोईटस वंश की कई जातियाँ थी। डिवोनियन कालखण्ड के

अन्तर्गत फेकोप्स, ट्राईमेरोसिफेलस, प्रोईटस एवं चेरूरस वंश विद्यमान थे। कार्बोनीफेरस काल में फिलीपसिया, ग्रिफीथीडस एवं ब्रेकीमेटोपस मुख्य वंश उपस्थित थे। पर्मियन काल में फिलीपसिया एवं नियोप्रोईटस मुख्य वंश की जातियाँ विद्यमान थी। पर्मियन के अन्त तक ट्राईलोबाईट पूर्ण रूप से विलुप्त हो चुके थे।

संघ : ब्रेकियोपोडा
(Phylum : Brachiopoda)

वर्ग (Class)	गण (Order)
I. इनआर्टिकुलेटा (अदंती) (Inarticulata)	1. आट्रेमेटा (Atremata) 2. नियोट्रेमेटा (Neotremata)
II. आर्टिकुलेटा (दंती) (Articulata)	1. प्रोट्रेमेटा (Protremata) 2. टेलोट्रेमेटा (Telotremata)

कुछ विशेष कारणों से अन्य प्राणी–समूहों की अपेक्षा ब्रेकियोपोडा के प्रति जीवाश्म–वैज्ञानिकों की रुचि निरन्तर अधिक बनी रही। अध्ययन के लिए इनके उत्तम जीवाश्मों की सरलता से प्राप्ति, सीमित भू–वैज्ञानिक वितरण तथा विस्तृत भौगोलिक वितरण के फलस्वरूप इनकी भू–वैज्ञानिक उपयोगिता, इस रुचि के मुख्य कारण रहे। ब्रेकियोपॉड दो ग्रीक शब्दों, ब्रेकियान (Brachion = arm) और पॉड Pod = Foot, के संयोग से बना है। प्रारंभ में वैज्ञानिकों ने इसके बाहु या ब्रेकिया को गलती से मोलस्का संघ के अन्तर्गत आने वाले प्राणियों के पद के समरूप मान लिया था, इसीलिए इनका नाम ब्रेकियोपॉड पड़ा। परन्तु यथार्थतः इनमें पद जैसी कोई संरचना नहीं पाई जाती। ब्रेकियोपॉड नाम इतना सामान्य और प्रचलित हो गया है कि गलत नामकरण के बावजूद यह संघ अभी भी इसी नाम से जाना जाता है। अपने लैम्प जैसे विशिष्ट आकार के कारण ब्रेकियोपॉड को लैम्पशैल (Lamp shells) भी कहते हैं।

ब्रेकियोपॉड तल में रहने वाले समुद्री प्राणी हैं। इनका कवच या चोल द्विपार्श्व–सममित होता है। साधारणतः यह एक ही भाग का बना हुआ दिखता है, परन्तु ध्यानपूर्वक निरीक्षण करने पर विदित होता है कि वास्तव में ये दो भागों का बना होता है। प्रत्येक भाग को कपाट या वाल्व कहते हैं। अर्थात् ब्रेकियोपॉड का कवच द्विकपाटीय होता है (चित्र 6.9)। ये कपाट असमकपाटीय (Inequivalent) तथा स्थिति में पृष्ठ (Dorsal) और अधर (Ventral) होते हैं। अधरकपाट अधिकांशतः पृष्ठ कपाट से बड़ा होता है। दोनों कपाटों का पश्च भाग चोंच (Beak) के आकार का होता है जिसे ककुद या अम्बो (umbo) कहते हैं। अधर कपाट का ककुद पृष्ठ कपाट के ककुद से बड़ा होता है तथा इसके शीर्ष या शीर्ष से कुछ नीचे एक द्वारा होता है। जीवित अवस्था में इस द्वार से एक छड़ जैसी लचीली संरचना निकली रहती है जिसे वृन्तक या पैडिकल (Pedicle) तथा द्वार को वृन्तक द्वार या पैडिकल द्वार (Pedicle Opening) कहते हैं। पैडिकल की सहायता से प्राणी किसी आधार से संलग्न रहता है। अधर कपाट में चूंकि पैडिकल पाया जाता है इसलिए इसे पैडिकल कपाट भी कहते हैं। इसी प्रकार अधर कपाट में एक विशिष्ट संरचना बाहु–कंकाल (Brachial Skeleton) पायी जाती है, इसलिये इसे बाहु–कपाट (Brachial valve) भी कहते हैं। ये दोनों कपाट पश्च उपान्त के साथ–साथ एक दूसरे से संलग्न रहते हैं। इस उपान्त को कब्जा या हिन्ज रेखा (Hinge-Line) कहते हैं।

कुछ अपवादों को छोड़ कवच की अध्ययन स्थित में ककुद

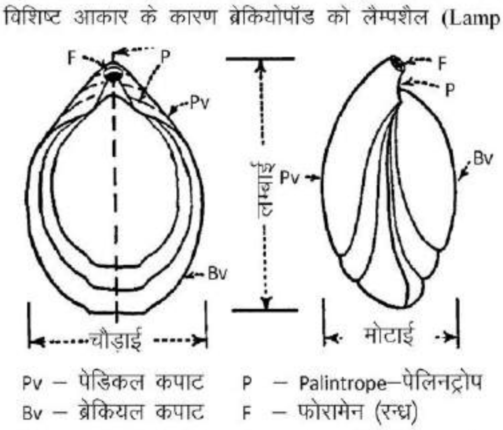

Pv – पेडिकल कपाट P – Palintrope–पेलिनट्रोप
Bv – ब्रेकियल कपाट F – फोरामेन (रन्ध्र)

चित्र 6.9: ब्रेकियोपॉड कवच की बाह्य आकारिकी

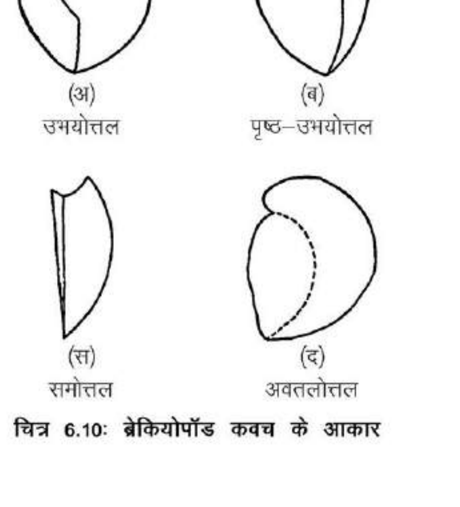

चित्र 6.10: ब्रेकियोपॉड कवच के आकार

ऊपर की ओर दिष्ट होते हैं। परम्परागत शब्दावली के अनुसार ककुद से अग्र भाग तक की लम्बवत् दूरी को कवच की लम्बाई, हिन्ज की लम्बाई की दिशा में अधिकतम दूरी की चौड़ाई तथा पृष्ठ से अधर तक की अधिकतम दूरी की मोटाई कहते हैं।

कवच के आकार

ब्रेकियोपॉड के कवच विभिन्न आकार के पाये जाते हैं (चित्र 6.10)। इनमें निम्नलिखित मुख्य हैं : ऐसे कवच को जिनके दोनों कपाट समान रूप से उत्तल होते हैं, उभयोत्तल (**Biconvex**) कहते है। जिनके पृष्ठ कपाट अधर कपाट की अपेक्षा अधिक उत्तल होते हैं उन्हें पृष्ठ–उभयोत्तल (**Dorsi-boconvex**) कहते हैं। पृष्ठ कपाट सम तथा अधर सपाट उत्तल वाले कवच को समोत्तल (**Plano-convex**) तथा पृष्ठ कपाट अवतल और अधर कपाट उत्तल वाले कवच को अवतलोत्तल (**Concavo-convex**) कहते हैं।

समरूपता (Homoeomorphy)

समरूपता प्राणी के विकास की वह प्रवृत्ति है जिसमें दो विभिन्न असम्बद्ध वंश परम्पराओं का विकास एक ही दिशा में होता है जिसके फलस्वरूप इनकी आकारिकी में अत्यधिक समानता पायी जाती है। अतः ऐसे प्राणियों को, जो यथार्थ में दो विभिन्न वंश परम्पराओं के होते हैं तथापि बाह्य रूप से समान दिखते हैं, समरूपी (**Homoeomorphs**) कहते हैं। समरूपी प्राणियों के विकास की विभिन्न अवस्थाओं और उनकी संरचनात्मक विशेषताओं के विस्तृत अध्ययन से ही यह निश्चित किया जा सकता है कि ये किस वंश–परम्परा के वर्तमान समरूपी अवस्था में पहुँचे हैं। समरूपी प्राणियों को दो संवर्गों में विभाजित किया जा सकता है : समकालिक समरूपी (Isochronous Homoeomorphs) ये समरूपी प्राणी हैं जो एक ही भू–वैज्ञानिक काल में पाये जाते हैं। विभिन्न भू–वैज्ञानिक कालों में पाये जाने वाले समरूपी प्राणियों को असमकालिक समरूपी (Heterochronus Homoeomorphs) कहते हैं। ब्रेकियोपॉड और ऐमोनाइड में इस घटना के उदाहरण विशेष रूप से पाये जाते हैं।

आकारिकी (Morphology)

कपाटों के बाह्य लक्षण (External Characters of Valves)

अलंकरण (Ornamentation) – अलंकरण शब्द का उपयोग केवल अलंकरण तक ही सीमित न होकर उन सभी विशेषताओं के लिए होता है जो कवच की बाह्य सतह पर दिखाई देती हैं। ब्रेकियोपॉड के अभिनिर्धारण में अलंकरण अत्यन्त महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। साधारणतः अदंती (Inarticulates) और लैम्प जैसे कवच युक्त ब्रेकियोपॉड के कवच बहुधा चिकने रहते हैं।

ब्रेकियोपॉड के अलंकरण को मुख्य दो प्रकारों, संकेन्द्रों और अरीय में विभेदित किया जा सकता है। वृद्धि–रेखाएँ संकेन्द्री अलंकरण का सबसे मुख्य अंग हैं। वृद्धि–रेखाएँ कवच के उपान्त की क्रमिक वृद्धि की विभिन्न स्थितियाँ दर्शाती हैं। कभी–कभी ये परतदार एक दूसरे का अतिव्यापन करती हुई होती हैं, उदाहरणतः एथाइरिस (**Athyris**)। इन परतों को स्तरिका या लैमेली (**Lamellae**) कहते हैं। वृद्धि–रेखाएँ कभी–कभी कुछ उभरी हुई कटक जैसी होती हैं। ऐसी महीन वृद्धि रेखाओं को फाइला (**Filasing-filium**) तथा अपेक्षाकृत मोटी रेखाओं को वलि या रूगी (**Rugae**) कहते हैं।

संकेन्द्री की अपेक्षा अरीय अलंकरण ब्रेकियोपॉड के अभिनिर्धारण में अधिक सहायक होते हैं। इनमें विभिन्न आकार की उभरी हुई रेखाएँ ककुद से प्रारंभ होकर कवच के उपान्त की ओर जाती हैं। वृद्धि रेखाओं के समान इन्हें भी, जब ये लघु और महीन होती हैं, फाइला या कोस्टेली (**Costellae**) तथा जब कुछ बड़ी और मोटी और हैं, पर्शुका या कोस्टी (**Costae**) कहते हैं। संकेन्द्री और अरीय अलंकरण अलग–अलग स्वतंत्र रूप से या दोनों एक साथ पाये जा सकते हैं। दोनों प्रकार के अलंकरण साथ–साथ होने पर उसे जालिकारूपी अलंकरण कहते हैं। संकेन्द्री और अरीय अलंकरण के प्रतिच्छेद बिन्दुओं पर यदि गुलिकाएँ (Tubercles) विकसित पाई जाती हों, अथवा वृद्धि–स्तरिकाएँ, उत्थित (**Raised**) हों तो ऐसे अलंकरण को खपरैली (Squamose) या इम्ब्रीकेट (Imbricate) कहते हैं। प्रतिच्छेद बिन्दुओं पर कभी–कभी शूल पाये जाते हैं। ऐसे शूल प्रोडक्टस कुल (**Productus**) की विशेषता है, परन्तु जीवाश्मों में ये यदाकदा ही परिरक्षित हो पाते हैं।

कपाटों के अग्र भाग जिस उपान्त के साथ–साथ मिलते हैं उसे परियोजी (**Commissure**) कहते हैं। परियोजी का सम्बन्ध बहुधा अलंकरण से होता है। यह सरल, तरंपित (Wavy) या क्रकची (**Serrate**) होती है। किसी–किसी जीवाश्मों में ये तरंगें बड़ी और गहरी होती हैं तथा दोनों कपाटों को प्रभावित करती हैं। उपरोक्त स्थिति में उत्तल भाग को वलन (**Fold**) या प्लाइका (**Plica**) तथा अवतल भाग को खाँच या सल्कस (Sulcus) कहते हैं।

हिन्ज रेखा या कार्डिनल मार्जिन (Hinge Line or Cardinal Margin)

दोनों कपाट, जिस रेखा के साथ–साथ दाँत और गर्तिकाओं (Sockets) की सहायता से संलग्न रहते हैं उसे हिन्ज रेखा या कार्डिनल मार्जिल कहते हैं। उपर्युक्त प्रकार से दाँत और गर्तिकाओं की सहायता से संलग्न कपाट वाले ब्रेकियोपॉड को दंती या आर्टिकुलेट (Articulates) कहते हैं। कुछ अन्य ब्रेकियोपॉड के कपाट केवल पेशियों और प्रावर (**Mantle**) की सहायता से संधित रहते हैं। ऐसे समूह को अदंती या इनआर्टिकुलेट (Inarticulate)

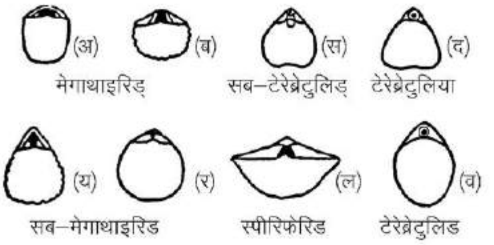

चित्र 6.11: ब्रेकियोपॉड में हिन्ज–रेखा की विभिन्न किस्में

कहते हैं।

हिन्ज रेखा सीधी और लम्बी, जैसे स्पिरिफर (Spirifer) में या छोटी और वक्र, जैसे टेरेब्रैटुला (Terebratula) में होती है। चित्र 6.11 में हिन्ज रेखा की विभिन्न किस्में दर्शायी गई हैं। ऐसे कवच जिनमें हिन्ज–रेखा की लम्बाई कवच की अधिकतम चौड़ाई से अधिक होती है, अनुप्रस्थ कवच कहलाते हैं, जैसे – स्पिरिफर।

कुछ ब्रेकियोपॉड, उदाहरणतः स्पिरिफर वंशक (Spiriferids) और सिर्टिया (Cyrtia) में ककुद और हिन्ज रेखा के बीच समतल या थोड़ा अवतल क्षेत्र होता है। इस क्षेत्र को हिन्ज क्षेत्र (Hinge Area) या कार्डिनल–क्षेत्र कहते हैं। यह क्षेत्र बहुधा त्रिभुजाकार और चिकना अथवा हिन्ज–रेखा के समान्तर वृद्धि–रेखाओं से अलंकृत होता है। कवच के शेष भाग पाया जाने वाला अलंकरण इस क्षेत्र में नहीं पाया जाता। यह क्षेत्र दोनों कपाटों में पाया जाता है, जैसे – ऑर्थिस (Orthis), परन्तु अधर कपाट क्षेत्र पृष्ठ कपाट के क्षेत्र से सदैव अपेक्षाकृत बड़ा होता है। कुछ ब्रेकियोपॉड में यह क्षेत्र केवल अधर कपाट में ही पाया जाता है।

वृंतक द्वार (Pedicle Opening)

वृंतक–द्वार, वर्गीकरण की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण है, क्योंकि भिन्न–भिन्न जातियों में इसके गुणों में भी अत्यधिक विभिन्नता पाई जाती है। कुछ प्रारम्भिक ब्रेकियोपॉड में यह कवच के पश्च उपान्त के मध्य में स्थित सामान्य विदर (Gap) के रूप में पाया जाता है।

कुछ अन्य में यह सीमित द्वार के रूप में पाया जाता है तथा दोनों कपाट उसके भागीदार होते है। अधर कपाट में स्थित भाग को त्रिकोणी छिद्र (Delthyrium) तथा पृष्ठ कपाट वाले भाग को नोटोथाइरिम (Notothyrium) कहते हैं। ये बहुधा त्रिभुजाकार होते हैं। कुछ जातियों में पैडिकल द्वार केवल अधर कपाट में सीमित, एक गोल छिद्र के रूप में पाया जाता है। ऐसे विशिष्ट द्वार को रंध्र या फोरैमेन (Foraman) कहते हैं। उदाहरण – स्वरूप टेरेब्रेटुला (Terebratula)। यह ध्यान देने योग्य बात है कि केवल पृष्ठ कपाट में सीमित रंध्र किसी भी जाति में नहीं पाया

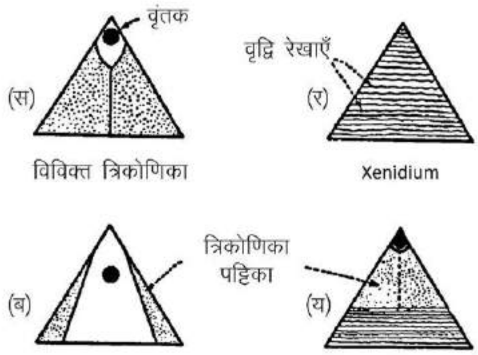

चित्र 6.12: ब्रेकियोपॉड में वृंतक द्वार

जाता।

रंध्र की स्थिति सभी ब्रेकियोपॉड में समान नहीं होती। डिसाइना (Discina) में यह कपाट के मध्य में स्थित होता है जिसके फलस्वरूप वृंतक कपाट से लम्बवत रहता है। आर्थिस में ये त्रिभुजाकार और ककुद के नीचे तथा मैजेलैनिया (Magellania) में ककुद के शीर्ष पर स्थित रहता है।

त्रिकोणी छिद्र की स्थिति तथा आकार भी परिवर्तनशील है। टेलोट्रेमेटा (Telotremata) ब्रेकियोपॉड की तरूण अवस्था में त्रिकोणी छिद्र पाया जाता है परन्तु विकास की आगे की अवस्थाओं में, इसके पार्श्व से विकसित दो पट्टिकाओं द्वारा क्रमशः यह बन्द होता जाता है। इन पट्टिकाओं को त्रिकोणिका (Deltidium) कहते हैं। त्रिकोणिका त्रिकोणी–छिद्र के पार्श्वों से एक दूसरे की ओर विकसित होती हुई कभी–कभी आपस में संघित भी हो जाती हैं (चित्र 6.12)।

प्रोट्रेमेटा (Protremata) और नियोट्रेमेटा (Neotremata) के अन्तर्गत आने वाले प्राणियों में त्रिकोणी छिद्र प्रायः एक पट्टिका के द्वारा पूर्णरूपेण बन्द होता है। इस एकल पट्टिका को कूट त्रिकोणिका (Pseudodeltidium) कहते हैं। बाह्यरूप से यह त्रिकोणिका जैसी ही दिखती है, परन्तु इसके विकास की अवस्थाएँ त्रिकोणिका की अवस्थाओं से भिन्न होती हैं।

कपाटों के आंतरिक लक्षण
(Internal Characters of the Valves)

ब्रेकियोपॉड के कपाट पेशियों की सहायता से बन्द होते और खुलते हैं। जिन पेशियों की सहायता से कपाट खुलते हैं उन्हें अनावरक (Divaricators) और जिनसे बन्द होते हैं उन्हें अभिवर्तनी (Adductors) कहते है।

पृष्ठ कपाट के आंतरिक लक्षण

पृष्ठ कपाट के आंतरिक लक्षण अधर कपाट की अपेक्षा अधिक जटिल होते हैं। इनके संरचनात्मक लक्षणों को सामूहिक रूप से कार्डिनेलिया (Cardinalia) नाम दिया गया है। कार्डिनेलिया का अध्ययन निम्नलिखित तीन भागों में किया जा सकता है :

1. संधि उपकरण (**Articulation Apparatus**),
2. हिन्ज प्रवर्ध (Cardinal Process),
3. ब्रेकिडिया (Brachidia)।

अधर कपाट के दाँतों के लिए कपाट के बाह्य उपान्त पर स्थित संगत (Corresponding) गर्तिकायें होती हैं (चित्र 6.13)। बाहु–कपाट अथवा पृष्ठ कपाट की चोंच पर या उसके समीप, इन गर्तिकाओं के बीच में स्थित अग्र की ओर बहिर्वेशित संरचना को हिन्ज–प्रवर्ध अथवा कार्डिनल प्रवर्ध कहते हैं। हिन्ज प्रवर्ध अनावरक पेशियों को संलग्न के लिए आधार प्रदान करता है। यह कपाटों के खोलने की क्रिया में सदैव उपयोग में आता है। विभिन्न जातियों में इसके आकार, साइज तथा संरचना में अत्यधिक भिन्नता पाई जाती है।

गर्तिकाओं के कटक से प्रारंभ होकर मध्य रेखा की ओर बढ़ी हुई लगभग क्षैतिज पट्टिकाओं को हिन्ज पट्टिकायें कहते हैं।

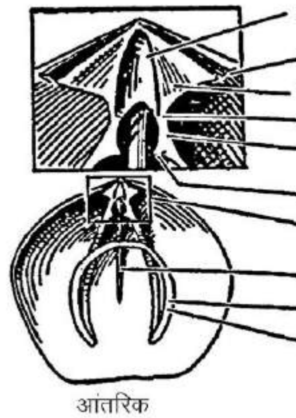

चित्र 6.13: ब्रेकियोपॉड कवच की आन्तरिक आकारिकी

बाहु–आधार (**Brachial support**) के समीपस्थ हुक जैसे भाग को, जो हिन्ज–पट्टिका से संलग्न होता है, क्रूरा (**Crura**) कहते हैं तथा हिन्ज–पट्टिका से बहिर्वेशित भाग को, जो क्रूरा को आधार प्रदान करने के लिए होता है, क्रूरा आधार (**Crural Base**) कहते हैं।

अनेक प्रोट्रेमेटा और टेलोट्रेमेटा ब्रेकियोपॉड में लोफोफोर (**Lophophore**) को आधार प्रदान करने के लिए बाहु–कपाट में कैल्सियममय पट्टीदार संरचना पाई जाती है जिसे ब्रेकिडियम या बाहु–कंकाल (**Brachial Skeleton**) कहते हैं। बाहु–कंकाल पृष्ठ कपाट के पश्च भाग पर स्थित हिन्ज प्रवर्ध के दोनों पार्श्वों संलग्न रहता है। रिंकोनेला (**Rhynchonella**) और हेमीथाइरिस (**Hemithyris**) में बाहु–कंकाल सबसे सरल, दो मुड़ें हुए हुक जैसा होता है, जिसे क्रूरा कहते हैं। टेरेब्रेटुला में यह क्रूरा से प्रारंभ होकर पट्टी के छोटे लूप (loop) जैसा तथा स्ट्रिगोसिफैलस (**Stringocephalus**) में यह बड़ा तथा कवच उपान्त के समान्तर होता है। मैजेलैनिया (**Megellania**) का बाहु कंकाल पहले अग्र भाग तक जाकर स्वयं के ऊपर पश्च की ओर पलट जाता है। स्पिरिफर में यह सर्पिल स्प्रिंग (**Spiral spring**) जैसा होता है। स्पिरिफर में सर्पिल स्प्रिंग के शीर्ष कपाट के पार्श्वों की ओर ग्लैसिया (**Glassia**) में अन्दर की ओर एट्राइपा (**Atrypa**) में केन्द्र की ओर दिष्ट होते हैं।

पेशीय–तंत्र (Musculature)

जैसा कि पहले ही बताया जा चुका है कि ब्रेकियोपॉड के कपाट विशेष पेशियों की सहायता से खुलते और बंद होते हैं। मृत्युपरान्त कोमल भाग नष्ट हो जाते हैं, परन्तु कपाटों के अभ्यन्तर में, जहाँ–जहाँ इनका संलग्न होता है, ये अपनी छाप छोड़ जाते हैं। ये छापें कपाट के अभ्यन्तर से कुछ उत्तल अथवा अवतल तथा विशिष्ट रूप से धारीदार (**Striated**) होती हैं।

अभिवर्तनी पेशियाँ (**Adductor Muscles**) कपाटों को बन्द करने में सहायक होती हैं। इनके संलग्न से जो छापें बनाती हैं उन्हें अभिवर्तनी छाप (Adductor Impression) कहते हैं। अभिवर्तनी पेशियों का एक युगल होता है जो अधर कपाट के मध्य में संलग्न रहने के कारण एक छाप छोड़ता है। यह छाप एक मध्य रेखा द्वारा दो भागों में विभाजित रहती है। पृष्ठ कपाट तक पहुँचने के पूर्व प्रत्येक अभिवर्तनी पेशी दो पेशियों में विभाजित हो जाती है और इस प्रकार पृष्ठ कपाट में अभिवर्तनी पेशियों की चार छापें पाई जाती हैं।

जो पेशियाँ कपाटों को खोलने में सहायक होती हैं उन्हें अनावरक (Divaricator) पेशियाँ कहते हैं। अधर कपाट से पृष्ठ कपाट तक पहुँचने के पूर्व अनावरक पेशियाँ दो युगलों (कुल चार) में विभाजित हो जाती हैं। अधर कपाट में ये अभिवर्तनी के पास तथा पृष्ठ कपाट में पश्च भाग पर स्थित, हिंज–प्रवर्ध से संलग्न

रहती है। हिंज–प्रवर्ध पर इनकी छाप अत्यन्त सूक्ष्म होती है और इसलिए जीवाश्मों में ये छाप दृष्टिगोचर नहीं होती।

वृंतक या पेडिकल को संकुचित करने और फैलाने के लिए भी पेशियाँ पाई जाती हैं जिन्हें वृंतक समयोजी पेशियाँ **(Pedicle Adjustor Muscles)** कहते हैं। इनकी छाप अधर कपाट में ककुद के पास, मुख्य क्षेत्र से पश्च तथा अनावरण छाप के पीछे स्थित होती हैं। पृष्ठ कपाट में ये छाप बाह्य अभिवर्तनी छाप के पीछे पाई जाती है।

ब्रेकियोपॉड का भू–वैज्ञानिक वितरण

ब्रेकियोपॉड पूर्ण रूप से समुद्र के अन्दर लवणीय जल में रहने वाले प्राणी हैं जो संसार में हर जगह पाये जाते हैं। वर्तमान समय की अपेक्षा पूर्व में इनकी संख्या अपेक्षाकृत अधिक थी। पेलियोजोईक एवं मिसोजोईक काल के अन्दर इनकी संख्या बहुतायत में थी। टरसरी काल में इनकी संख्या कम होती गई तथा वर्तमान काल में पाये जाने वाले ब्रेकियोपॉड का उद्भव भी टरसरी काल के ब्रेकियोपॉड से ही हुआ था।

पेलियोजोईक काल ब्रेकियोपॉड के उद्भव का महत्वपूर्ण कालखण्ड है। इसके अन्दर केम्ब्रियन काल में इनआर्टिकुलेटा वर्ग महत्वपूर्ण था। इनआर्टिकुलेट (अदंती) वर्ग के गण आट्रेमेटा के महत्वपूर्ण जीवाश्म रूजेला, ओबोलस एवं लीगुंलेला थे। जबकि नियोट्रेमेटा गण के ओबोलेला, आट्रेकोथैल आदि थे। आर्डोविसीयन काल में ब्रेकियोपॉड, केम्ब्रियन की तुलना में अधिक थे। इस काल में आर्टिकुलेटा (दंती) वर्ग के प्रोट्रीमेट गण के महत्वपूर्ण जीवाश्म विद्यमान थे। इसी वर्ग के टेलोट्रीमेटा गण की उपस्थिति सर्वप्रथम मध्य ओड्रोविसियन में दर्ज की गई। वर्ग इनआर्टिकुलेटा के अन्य महत्वपूर्ण जीवाश्म – रेफीनेशक्वीना, लेप्टीना, स्ट्रोफोमीना एवं लीगुंला।

सीलुरीयन कालखण्ड के अन्दर ब्रेकियोपॉड का सर्वाधिक उद्भव हुआ। इनआर्टिक्यूलेट ब्रेकियोपॉड की संख्या में कमी दर्ज की गई। इस कालखण्ड के महत्वपूर्ण जीवाश्म – ओरथीस, इओस्पीरीफर, आट्राइपा, लींगुला, कोनीटिस एवं पेन्टामेरस।

डीवोनियम काल में इनकी संख्या में गिरावट दर्ज की गई लेकिन बहुत से सीलुरियन वाले ब्रेकियोपॉड इस काल में उपस्थित थे। इस काल में स्ट्रीगोंसीफेलस, अनसाईटिस एवं मैगालेनटेरिस महत्वपूर्ण ब्रेकियोपॉड थे।

कार्बोनीफेरस काल में ओरथीडस, स्ट्रोफोमेनीडस, प्रोडक्टीडस, स्पीरीफैरीडस एवं रिन्कोनेलीडस वर्ग महत्वपूर्ण थे। परमीयन काल में प्रोडक्टस, स्पीरीफर, स्पीरीफैरेला महत्वपूर्ण जीवाश्म थे।

मध्यजीवी कालखण्ड के प्रारंभ में ट्राईसिक काल में पेलीजोईक के स्पीरीफैरीना एवं सिरटीना के अलावा बाकी जीव विलुप्त हो गये। इसके अतिरिक्त कोईनोथाईरीस महत्वपूर्ण जीवाश्म है। जुरेसिक काल के टैरीब्रेटुला, रिन्कोनैला, स्पीरीफैरीना, लिगुंला आदि जीवाश्म हैं।

क्रिटेशीयस काल में क्रेनीया, मायाज, किगंना, ट्राईगोनोसेमस के अतिरिक्त टेरीब्रेटुलीडस एवं रिन्कोनैलीडस वर्ग के जीव महत्वपूर्ण थे।

तृतीय काल में इनकी संख्या करीब–करीब नगण्य होती गई। इनमें लींगुला, टेरीब्रेटुला, टेरीब्रेटुलीना एवं मेजेलेनिया महत्वपूर्ण थे, जो वर्तमान समय में भी समुद्रों में पाये जाते हैं।

संघ : मोलस्का
(Phylum : Mollusca)

वर्ग गैस्टरोपोडा (Class Gasteropoda)

गैस्टरोपोडा शब्द दो ग्रीक शब्दों **(Gastros** = जठर एवं **Podos** = पद) के संयोग से बना है। इस शब्द से प्राणी के अधर भाग पर स्थित पद का निर्देश होता है।

गैस्टरोपोडा जल में और थल पर, दोनों में पाये जाते हैं। इनमें बहुतायत समुद्री प्राणियों की है। अलवण जल में पाये जाने वाले गैस्टरोपोड की संख्या भी कम नहीं है। इनमें विभिन्न वातावरण में अनुकूलन की अद्भुत क्षमता होती है, इसलिये ये समुद्र की गहराइयों से लेकर पर्वतों पर 500 मीटर की ऊँचाई तक देखे जा सकते हैं।

जीवित प्राणियों का निरीक्षण करने से विदित होगा कि इनके एक सुस्पष्ट सिर होता है जिसमें नेत्र और स्पर्शक **(Tentacles)** पाये जाते हैं। चलन के लिए एक पद होता है जो बहुधा पंख जैसा चौड़ा और चपटा होता है। श्वसन क्रिया प्रावार में स्थित गिल की सहायता से होती है, परन्तु कुछ गैस्टरोपोड में श्वसन क्रिया त्वचा की सहायता से भी होती है।

घोंघे, वेल्क, लिम्पेट, स्लग आदि इस वर्ग के अन्तर्गत आने वाले मुख्य प्राणी हैं।

कवच (The Shell)

कुछ अपवादों को छोड़कर प्रायः सभी गेस्टरोपोड में कवच पाया जाता है। कवच बहुधा बाह्य होता है और आंतरांग गुच्छ को ढंक लेता है। केवल कुछ प्राणियों, जैसे – स्लग, में ये आन्तरिक होता है।

लैमलीब्रेन्क की तरह गैस्टरोपोड का कवच द्वि–कपाटीय और द्वि–पार्श्वीय नहीं होता, वरन् यह एक–कपाटीय (Univalve) होता है। साथ ही साथ यह कुंडलित और असममित होता है। प्रारूपित गैस्टरोपोड का कवच कुंडलित नली **(Coiled-Tube)** जैसा होता है। कुंडलीकरण मुख्य रूप से दो प्रकार का होता है, जिन्हें क्रमशः समतल सर्पित **(Planispiral)** और कुंडलिनी रूप **(Helicoid)** कहते हैं। समतल सर्पिल में कुण्डलीकरण एक

काल्पनिक अक्ष के चारों ओर एक ही तल पर होता है, जैसे प्लैनार्बिस (Planorbis)।

कुंडलीनिरूप कुंडलीकरण में यह पेंच के समान होता है। यह कुंडलीकरण दो प्रकार होता है, दक्षिणावर्ती (Dextral) एवं वामावर्ती (Sinistral) = दक्षिणावर्ती कुंडलीकरण में वलन घड़ी के काँटों के घूमने की दिशा (Clockwise) होती है तथा वामावर्ती में यह घड़ी के काँटों के घूमने की दिशा के विरुद्ध (Anticlockwise) होती है (चित्र 6.14)। कुछ अपवादों को छोड़ लगभग सभी गैस्टोरोपोड कवच दक्षिणावर्ती होते हैं। फाइसा (Physa) तथा प्लेनार्बिस (Planorbis) वामावर्ती कुंडलीकरण के प्रमुख उदाहरण हैं।

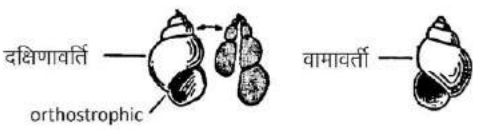

चित्र 6.14: गेस्ट्रोपोड में कुण्डलीकरण के प्रकार

दक्षिणावर्ती एवं वामावर्ती कुंडलीकरण को निम्न प्रकार पहचाना जा सकता है :

कवच को इस प्रकार पकड़ा जाये कि सर्पिल शीर्ष (Spire) का शिखर (Apex) निरीक्षक से दूर तथा द्वारक (Aperture) निरीक्षक की ओर हो। इस स्थिति में यदि द्वारक निरीक्षक के दायीं ओर हो तो कवच दक्षिणावर्ती और यदि बायीं ओर हो तो वामावर्ती होगा।

कुंडलित कवच के एक सम्पूर्ण वलन को चक्कर (Whorl) कहते हैं। चक्कर एक दूसरे को स्पर्श करते हुए पृथक होते हैं। चक्करों का आपस में स्पर्श करना अथवा पृथक रहना इस बात

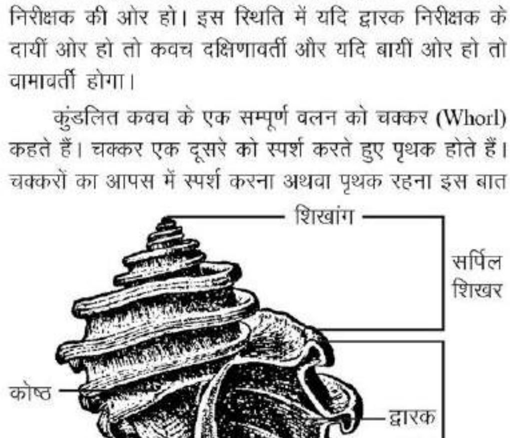

चित्र 6.15: गेस्ट्रोपोड की बाह्य आकारिकी

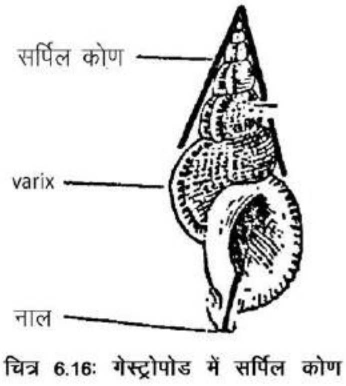

चित्र 6.16: गेस्ट्रोपोड में सर्पिल कोण

पर निर्भर करता है कि कुंडलीकरण कितना बद्ध या कितना अबद्ध या ढीला है। समीपवर्ती दो चक्करों के बीच की स्पर्श रेखा को सीवन (Suture) कहते हैं। अन्तिम चक्कर को छोड़, कवच के शेष भाग को सर्पिल शिखर (Spire) कहते हैं (चित्र 6.15)। अन्तिम चक्र को, जो प्रायः सर्वाधिक बड़ा होता है, देह चक्कर (Body Whorl) कहते हैं। देह–चक्कर में प्राणी का आंतरांग रहता है। सर्पिल–शिखर के नुकीले छोर को शीर्ष (Apex) कहते हैं। देह चक्कर के शीर्ष से सबसे दूरस्थ भाग को आधार (Base) कहते हैं। अन्तिम दो चक्करों की बाह्य सतहों को स्पर्श करती हुई दो अभिमुख रेखायें जो कोण बनाती हैं, उसे सर्पिल कोण (Spiral Angle) कहते हैं (चित्र 6.16)। सर्पिल शिखर की लम्बाई तथा सर्पिल कोण का परिमाण चक्करों की संख्या पर निर्भर करता है। चक्करों की संख्या जब अधिक होती है तब सर्पिल शिखर लम्बा तथा सर्पिल कोण का परिणाम कम होता है, जैसे टूरीटेला (Turritella)। इसके विपरीत जब चक्करों की संख्या कम होती है तब सर्पिल शिखर छोटा और सर्पिल कोण अधिक होता है, जैसे नाटिका (Natica)।

कुण्डलिनीरूप सर्पिल (Helicoid Spiral) कवचों में कुण्डलीकरण काल्पनिक अक्ष के चारों ओर होता है। चक्करों के आन्तरिक भाग का कभी–कभी इस काल्पनिक अक्ष के साथ–साथ सम्मिलन हो जाता है। यह अक्ष तब ठोस स्तम्भ के रूप में होती है, तब इसे स्तम्भिका (Columella) कहते हैं। स्तम्भिका कवच के आधार से शीर्ष तक जाती है। कभी–कभी चक्करों का सम्मिलन पूर्ण रूप से नहीं हो पाता। इस स्थिति में यह अक्ष नली की तरह पोली होती है और तब उसे नाभि (Umbilicus) कहते हैं नाभि आधार की खुली होती है। गैस्टरोपोड के जिन कवचों में स्तम्भिका पाई जाती है उन्हें आछिद्री (Imperforate) तथा जिनमें नाभि पाई जाती है उन्हें छिद्री (Perforate) कवच कहते हैं, अर्ध या पूर्ण रूप से बन्द रहती है। जीवित अवस्था में प्राणी मांसपेशियों द्वारा स्तम्भिका से संलग्न रहता है।

द्वारक या अपर्चर (Aperture)

गैस्टरोपोड के कवच का अन्तिम चक्कर आधार की ओर खुला होता है। इस खुले भाग को द्वारक कहते हैं। द्वारक का आकार विभिन्न जातियों में भिन्न–भिन्न पाया जाता है। इसका आकार वृत्ताकार, दीर्घ वृत्ताकार, अण्डाकार, धन्वाकार (Crescentic) या रेखाछिद्र (Slit) जैसा होता है। द्वारक के सीमान्त को परिमुख (Peristome) कहते हैं। परिमुख के बाह्य स्वतंत्र सीमान्त को बाह्य ओष्ठ (Outer lip) और अन्दर के उस भाग को जो अन्तिम चक्र से संलग्न रहता है, आन्तर–ओष्ठ (Inner lip) कहते हैं। कभी–कभी आन्तर ओष्ठ को दो भागों, भित्तीय–ओष्ठ (Parietal lip) और स्तम्भिकीय–ओष्ठ (Columellar lip), में विभेदित किया जाता है। आन्तर–ओष्ठ का वह भाग जो अन्तिम चक्कर से संलग्न रहता है, भित्तीय–ओष्ठ कहलाता है और जो स्ताम्भिका में संलग्न रहता है स्तम्भिकीय–ओष्ठ कहा जाता है द्वारक का बाह्य–ओष्ठ पतला अथवा मोटा, अन्दर की ओर मुड़ा हुआ, अर्थात् अन्तर्नत (Inflected), या बाहर की ओर मुड़ा हुआ अर्थात् बहिर्नत (Reflected) हो सकता है। कुछ जातियों में, जैसे लैम्बिस (Lambis), यह पंख जैसा या अंगुलियों जैसा बढ़े हुए प्रवर्धो जैसा होता है।

प्राणी की चलन की स्थिति में कवच देह के पृष्ठ भाग पर रहता है, शीर्ष पीछे और ऊपर की ओर तथा द्वारक नीचे की ओर होता है। इस स्थिति में द्वारक के शीर्ष से सबसे दूरस्थ भाग को अग्र और सबसे अमीपस्थ भाग को पश्च कहते हैं।

कभी–कभी द्वारक का उपान्त अछिन्न होता है, जैसे नाटिका। ऐसे द्वारक को पूर्ण परिमुखी (Holostomatous) कहते हैं। इसके विपरीत कुछ कवचों में प्राणी की जीवित अवस्था में, जहाँ जलनाल या साइफन स्थित होता है, जहाँ नाल–सा बन जाता है। इस नाल को जल–नाल खाँच (Siphonal Notch) या केवल नाल कहते हैं। ऐसे द्वारक को जिसमें नाल पाया जाता है नाल परिमुखी (Siphonostomatous) कहते हैं। ऐसे द्वारक के अग्र भाग में स्थित नाल को अग्र नाल (Anterior Canal) और पश्च में स्थित नाल को पश्च नाल (Posterior Canal) कहते हैं। ये नाल सीधी या वक्र होती हैं। साधारणतः नाल–परिमुखी गैस्टरोपोड मांसभक्षी और पूर्णपरिमुखी शाकाहारी होते हैं। नाल और प्राणी के विकास में विशेष सम्बन्ध होता है। प्राणी के विकास के साथ–साथ नाल गहरा होता जाता है। उपर्युक्त तथ्य से यह अनुमान लगाया गया है कि नाल परिमुखी गैस्टरोपोड क्रमशः पूर्णपरिमुखी से विकसित हुए हैं। बैलेरोफॉन कुछ की जातियों में बाह्य ओष्ठ में एक खाँच (Notch) पायी जाती है जो प्रावार–गुहा से उत्सर्ग (Faeces) तथा जल बाहर निकलने हेतु होती है। जैसे–जैसे कवच की वृद्धि होती है। यह खाँच कवचीय पदार्थ से क्रमशः भरती जाती है। जीवाश्मों में यह एक पट्टी के रूप में परिरक्षित पायी जाती है जिसे स्लिट बैंड (Slit Band) या सेलेनीजोन (Selenizone) कहते हैं।

बाह्य ओष्ठ पतला, मोटा या दंतुर (Toothed) होता है। कभी–कभी बाह्य ओष्ठ का कोर या फ्लैंज (Flange) बाहर की ओर मुड़ा होता है। ऐसे बाह्य ओष्ठ को बहिर्नत ओष्ठ (Reflected Lip) कहते हैं और जब यह अन्दर की ओर मुड़ा होता है, तब उसे अन्तर्नत ओष्ठ (Inflected) कहते हैं।

प्रच्छद ढक्कन या ऑपरकुलम (Operculum)

अनेक गैस्टरोपोड में द्वारक को अर्ध या पूर्ण रूप से बन्द करने हेतु चूनेदार या श्रृंगी (Horny) पदार्थ से निर्मित एक पट्टिका होती है जो पद के पृष्ठ भाग के अग्र छोर से संलग्न रहती है। इस पट्टिका को प्रच्छद–ढक्कन कहते हैं। इसकी स्थिति इस प्रकार होती है कि जब शत्रु के आक्रमण की आशंका से या गर्मी की ऋतु में निर्जलीकरण (Dehydration) से बचने के लिए प्राणी कवच के अन्दर प्रविष्ट हो जाता है तब यह द्वारक अर्ध या पूर्ण रूप से प्रच्छद ढक्कन द्वारा बन्द हो जाता है। टर्बो (Turbo) नाटिका, टरीटेला आदि कुछ ऐसी जातियाँ हैं जिनमें प्रच्छद–ढक्कन पाया जाता है। साधारणतः कवच के साथ प्रच्छद–ढक्कन परिरक्षित नहीं हो पाता।

प्रच्छद–ढक्कन का आकार विभिन्न जातियों में भिन्न–भिन्न पाया जाता है। कुछ जातियों में यह चिकना और दीर्घवृत्तीय होता है तथा कुछ में दीर्घाकार होता है जिसका निचला भाग चपटा और ऊपर का भाग उत्तल होता है, जैसे नाटिका अन्य गैस्टरोपोड में, जैसे ट्रोकस (Trochus) और टर्बो, में यह सर्पिल होता है जिसके सर्पिल–शिखर में अनेक चक्कर पाये जाते हैं। कुछ प्रच्छद–ढक्कनों में जटिल अलंकरण भी पाया जाता है जो प्राणी के अलंकरण निर्धारण में सहायक होता है।

अलंकरण की विविधता गैस्टरोपोड के विकास के अध्ययन और अभिनिर्धारण में अत्यन्त महत्व रखती है। साधारणतया आद्य–कवचों में अलंकरण सरल तथा प्रगत कवचों में जटिल होता है, परन्तु इसके विपरीत प्रगत कवच चिकने या सरल रूप से अलंकृत तथा आद्य–कवच अपेक्षाकृत जटिल रूप से अलंकृत हो सकते हैं। इसलिए यह ध्यान रखना अत्यन्त आवश्यक है कि अलंकरण की जटिलता सदैव प्रगत कवच की द्योतक नहीं होती है।

अलंकरण को दो मुख्य भागों – सर्पिल और अनुप्रस्थ – में वर्गीकृत किया जा सकता है। सर्पिल अलंकरण के लक्षण सीवन–रेखा के समान्तर होते हैं, परन्तु अलंकरण में ये सीवन रेखा और चक्करों को काटते हुए जाते हैं। अनुप्रस्थ अलंकरण वृद्धि–रेखाओं के समान्तर भी होते हैं। सर्पिल तथा अनुप्रस्थ अलंकरण में बहुधा महीन से लेकर स्थूल पर्शुकाएँ पाई जाती हैं। जब ये दोनों अलंकरण एक ही जाति में समान रूप से विकसित

होते हैं तब उसे जालिकारूपी अलंकरण कहते हैं। सर्पिल और अनुप्रस्थ पर्शुकाओं के प्रतिच्छेदन पर कभी–कभी गांठें सी पाई जाती है। ऐसे अलंकरण को गांठदार जालिकारूपी अलंकरण कहते हैं। अलंकरण के घटकों के आकार एवं लक्षणों के अनुसार उन्हें भिन्न–भिन्न शब्दावली से वर्णन किया जाता है। उदाहरणतः सुस्पष्ट कोणीय या गोदाईकार कटकों को कूटक (Carina), महीन उभरे धागों जैसी संरचना को लीरा (Lira) तथा कील (Keel), फ्लैन्स (Flange) अथवा शूलों की श्रृंखला को उत्कूट (Varix) कहते हैं। ये सभी अलंकरण अनुप्रस्थ, सर्पिल अथवा दोनों रूपों में पाये जाते हैं। अलंकरण कवच को दृढ़ता प्रदान करता है।

कवचों की आकृति

गैस्टोरोपोड के कवचों की आकृति में अत्यधिक विविधता पाई जाती है। आकृति के आधार पर इनको निम्नलिखित रूप से वर्गीकृत किया जा सकता है (चित्र 6.17) –

1. चक्रिकाम (Discoidal) – चक्रिकाभ कवच में सभी चक्कर एक ही तल में कुण्डलित होते हैं तथा सभी चक्करों का बहिर्भाग लक्षित होता रहता है, जैसे – प्लेनॉर्बिस (Planorbis)।

2. शंक्वाकार या ट्रोकीफार्म (Conical or Trochiform) – ये कवच शंकु के आकार के होते हैं। इनका सपर्लि–शिखर का शीर्ष से आधार की ओर चक्करों की परिधि क्रमशः बढ़ती जाती है, जैसे – ट्रोकस (Trochus)।

3. टर्बिनेट (Turbinate) – टर्बिनेट कवच का आकार भी शंकु जैसा ही होता है, परन्तु इसका आधार उत्तल होता है, जैसे – टर्बो (Turbo)।

4. टरीफार्म (Turriform) – टरीफार्म कवच का सर्पिल–शिखर लम्बा तथा अनेक चक्करों का बना होता है। सर्पिल कोण अत्यधिक न्यून होने के कारण सर्पिल–शिखर का शीर्ष नुकीला होता है। शीर्ष के आधार की ओर चक्करों की परिधि क्रमशः बढ़ती जाती है, जैसे – टरीटेला (Turritella)।

5. तकुआनुमा या फ्यूजीफार्म (Fusiform) – तकुआनुमा कवच के मध्य में मुटाई सबसे अधिक होती है। इस प्रकार कवच तकुआ के आकार (Spindle shaped) का होता है, जैसे – फ्यूजिनस (Fusinus)।

6. गोलाकार या नाटिकॉयाड (Globular or Naticoid) – कवच गोलाकार सर्पिल–शिखर छोटा तथा अन्तिम चक्कर अत्यधिक बड़ा और गोलाकार होता है, जैसे – नाटिका।

7. बेलनाकार या प्यूपीफार्म (Cylindrical or Pupaeform) – बेलनाकार कवचों में प्रारंभ के कुछ चक्करों के बाद शेष चक्करों की परिधि करीब–करीब बराबर होती है और इस प्रकार कवच बेलन के आकार का दिखता है, जैसे –प्यूपिला (Pupilla)।

8. संवलित या कान्वोल्यूट (Convolute) – संवलित कवचों में अन्तिम चक्कर अत्यधिक बड़ा तथा उत्तल होता है जो

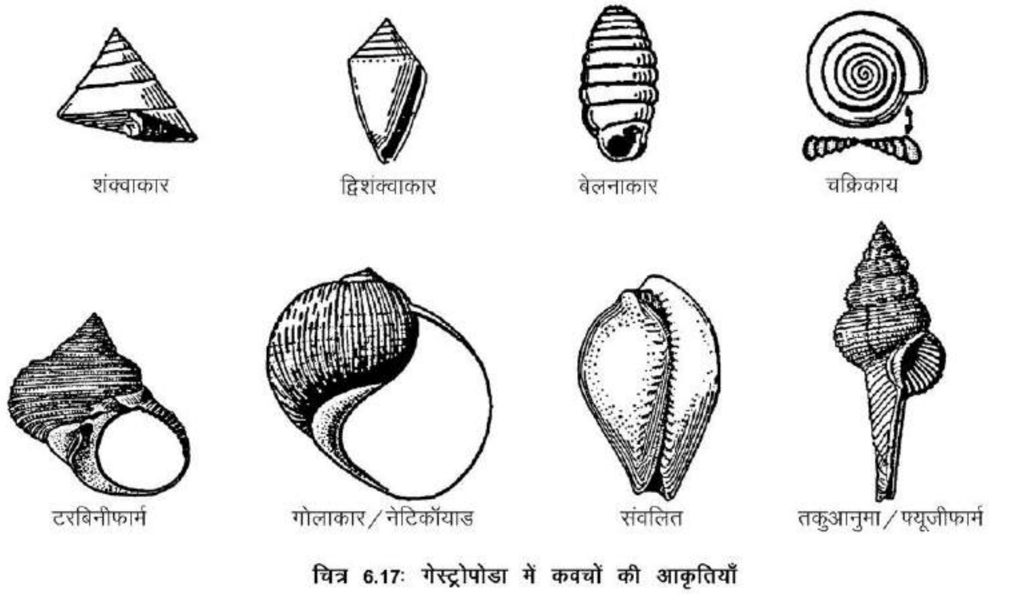

चित्र 6.17: गेस्ट्रोपोडा में कवचों की आकृतियाँ

अग्रिम सभी चक्करों को पूर्णतया आवृत्त कर लेता है। इनमें द्वारक की लम्बाई लगभग कवच की लम्बाई के बराबर होती है, जैसे – कौड़ी (Cypraea)।

गैस्ट्रोपोड का भू–वैज्ञानिक वितरण

गैस्ट्रोपोड मुख्य रूप से समुद्री लवणीय जल में रहते हैं लेकिन इनकी बहुत सी प्रजातियाँ स्थल एवं मीठे जल स्त्रोतों में भी मिलती हैं। समुद्री जल में इनकी बहुतायत गर्म जल एवं छिछले पानी में होती है। इनकी कुछ प्रजातियाँ थल एवं मीठे जल में समान रूप से पाई जाती है जैसे – एम्पूलेरिया। सेरीथियम एवं लिटोरीना खारे पानी के साथ मीठे पानी में भी पाई जाती है। सर्वप्रथम गैस्ट्रोपोड की उपस्थिति निम्न केम्ब्रियन में दर्ज की गई। केम्ब्रियन काल में स्केनैला, टीनोथिका इत्यादि गैस्ट्रोपोड पाये गये। ओर्डोविसीयन काल में क्राईटोलाईटस, रैफीस्टोमा, साईक्लोनीमा एवं सुबुलाईटस पाये जाते हैं। सिलुरीयन काल के प्लूरोटोमारिया, बैलेरोफोन, होलोपैला एवं प्लेटीसीरास की उपस्थिति दर्ज की गई। डिवोनियन काल में प्लूरोटोमारिया, बैलेरोफोन, लोक्सोनिमा एवं केप्यूलस महत्वपूर्ण जीव थे। कार्बोनीफेरस युग के समय लोक्सोनिमा, नाटीकोपसीस एवं केप्यूलस जीवाश्म थे। पर्मियन काल में मेक्रोचिलीना, प्लूरोटोमारिया एवं मरचीसोनिया जीव उपस्थित थे। मध्यकाल के ट्राईसेक में नाटीका, नाटीकैला एवं लोक्सोनिमा जीव थे। जुरेसिक काल में ट्रोकस, नाटीका, स्यूडोमैलानिया, नेरीनिया एवं सेरीथियम महत्वपूर्ण जीवाश्म थे। क्रिटेशीयस काल में आर्चिटेक्टोनिका, विविपोरस, नाटीका एवं एवीलाना महत्वपूर्ण जीवाश्म थे। तृतीय महाकल्प तक गैस्ट्रोपोड एक प्रमुख समूह के रूप में स्थापित हो गये। इओसिन काल के गैस्ट्रोपोड जीवाश्मों में जीनोफेरा, नाटीका, ट्यूरीटैला, सिप्रीया, वोल्यूटोस्पाईना, कोनस इत्यादि महत्वपूर्ण थे। आलीगोसीन काल में नेरीटा, नाटीका, विविपोरस, प्लेनोरबिस एवं हैलीक्स इत्यादि जीव थे। मायोसीन काल में ट्रोकस, एम्पूलिना, स्ट्रोम्बस, फाईकस, ओलीवा, कोनस आदि जीव थे। प्लायोसिन काल में ईमारजिनुला, ट्यूरीटैला, नाटीका, नाशारिया एवं क्राईसोडोमस महत्वपूर्ण जीवाश्म थे।

अभ्यासार्थ प्रश्न

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. निम्न में से कौनसा विकल्प जीवाश्म का उपयोग नहीं है–
   (अ) पुराजलवायु (ब) विकास क्रम
   (स) तेल अन्वेषण (द) खनिज अन्वेषण
2. कार्बोनाइजेशन में क्या होता है–
   (अ) कार्बन का जुड़ना (ब) $CaCO_3$ का जुड़ना
   (स) सिलिका का जुड़ना (द) FeS का जुड़ना
3. निम्न में से ट्राइलोबिटा का लोब नहीं है–
   (अ) थीका (ब) थोरेक्स
   (स) पीजीडियम (द) हेड (सिर)
4. निम्नलिखित में से कौनसी गस्ट्रोपोडस की आकृतिकी है–
   (अ) शंक्वाकार / कोनीकल (ब) तकआनुमा / फ्यूजीफोर्म
   (स) बेलनाकार (द) उपरोक्त सभी
5. कोरल में सेप्टा को कहते हैं–
   (अ) कॉस्टि (ब) डिसीपीमेन्टस
   (स) पाली (द) स्टाईलीफार्म

अतिलघुत्तरात्मक प्रश्न

1. जीवाश्म की परिभाषा बताइये?
2. सूचक–जीवाश्म की परिभाषा बताइये?
3. साँचा और ढालित में अन्तर बताओ?
4. अश्मीभवन (Petrification) को समझाइये?
5. जीवाश्म बनने के कारक लिखिये।
6. सरल प्रवाल का नामांकित चित्र बनाइये।
7. टैट्राकोरल और हैक्साकोरल में अन्तर बताओ।
8. टैट्राकोरल और हैक्साकोरल के दो–दो उदाहरण लिखिये।
9. ब्रेकियोपॉड में पाये जाने वाले कवच के आकार के प्रकार को चित्र सहित समझाओ?
10. ब्रेकियोपॉड के वृंतक द्वारा (Pedicle opening) को समझाओ?
11. गेस्टरोपोडा में चक्कर (Whorl) किसे कहते हैं?
12. गेस्टरोपोडा में प्रच्छद ढक्कन (Operculum) का कार्य लिखिये।
13. गेस्टरोपोडा के कवचों की आकृति के प्रकारों के नाम बताइये।
14. ट्राईलोबाईटा में पाइजिडियम को समझाइये।
15. ट्राईलोबाईटा के देह के त्रिविभागीय विभाजन को लिखिये।
16. ट्राईलोबाईटा के दो उदाहरण लिखिये।

लघुत्तरात्मक प्रश्न

1. जीवश्म एवं जीवाश्म विज्ञान को परिभाषित कीजिये?
2. जीवाश्म बनने के कारकों को विस्तार से समझाइये?
3. जीवाश्म संरक्षण के प्रकारों का वर्णन कीजिये?

4. स्तरीय–सहसंबंध एवं पूरा जलवायु में जीवाश्म की उपयोगिता का वर्णन कीजिये?
5. जैव विकास के सिद्धान्तों को समझाइयें?
6. टेट्रोकोरल की आकारिकी का वर्णन नामांकित चित्र सहित कीजिये?
7. ब्रेकियोपोडा की बाह्य आकारिकी का चित्र सहित वर्णन कीजिये?
8. ब्रेकियोपोडा में हिन्ज रेखा या कार्डिनल मार्जिन के प्रकार को चित्र सहित समझाओ?
9. ब्रेकियोपोडा में वृतक द्वार (Pedicle opening) को चित्र द्वारा समझाइये?
10. गेस्ट्रोपोडा में पाये जाने वाले कवच के कुंडलीकरण का वर्णन कीजिये?
11. ट्राइलोबाइटा को भू–वैज्ञानिक विवरण लिखिये?
12. ट्राइलोबाइटा के बहिःकंकाल (Exoskeleton) को चित्र सहित समझाओ?
13. गेस्ट्रोपोडा में पाये जाने वाले कवचों की आकृति के प्रकारों को चित्र सहित वर्णन करो।
14. हेक्साकोरल की आकारिकी का चित्र सहित वर्णन कीजिये?
15. जीवाश्मों में अश्मीभवन (Petrification) एवं कार्बनीकरण (Carbonisation) को समझाइये?

निबंधात्मक प्रश्न

1. जीवाश्म क्या होते हैं? जीवाश्मों की विभिन्न उपयोगिताओं की विवेचना कीजिये।
2. ट्राइलोबाईट्स की आकारिकी का वर्णन नामांकित चित्र सहित कीजिये।
3. ब्रेकियोपोड्स की आकारिकी का वर्णन कीजिये एवं उनके भू–वैज्ञानिक वितरण का वर्णन कीजिये।
4. कोरलके भू–वैज्ञानिकी वितरण का विवरण लिखिये।
5. गेस्ट्रोपोडा की आकारिकीय का वर्णन व उनके भू–वैज्ञानिक वितरण का वर्णन कीजिये।

उत्तरमालाः 1. (द) 2. (अ) 3. (अ) 4. (द) 5. (अ)